रामाश्रम सत्संग डिजिटल प्रकाशन

संत-प्रसादी

(भाग-15)

डा. करतार सिंह जी महाराज

के प्रवचनों का संकलन

रामाश्रम सत्संग (रजि०)

9-रामकृष्ण कॉलोनी, जी० टी० रोड,

ग़ाज़ियाबाद-201009 (उ०प्र०)

प्रस्तावना

हम सब के लिए अत्यंत हर्ष का विषय है कि रामाश्रम सत्संग का डिजिटल प्रकाशन की श्रृंखला में पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का संकलन- संत प्रसादी भाग १५ प्रकाशित हो रहा है।

मेरा ऐसा मानना है कि हम सबको, गुरुदेव के प्रवचनों की जो अमृत वर्षा हो रही है, उससे प्रेरणा लेकर अपने जीवन को वैसा बनाने का प्रयास करना चाहिए जैसा पूज्य गुरुदेव हमें बनाना चाहते थे। इस संकलन के प्रकाशन में ग्वालियर के प्रोफेसर आदर्श किशोर सक्सेना द्वारा दिए गये सहयोग के लिए, हम उनका धन्यवाद करते हैं।

पूज्य गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना है कि उनकी अमृत वाणी के प्रवाह को जन जन तक पहुँचाने का अवसर हमें बार बार प्राप्त होता रहे।

उम्मीद है की सत्संग परिवार को हमारा यह प्रयास पसंद आएगा।

- डा. शक्ति कुमार सक्सेना

विषय-सूची

क्रम सं .

1. आत्मिक प्रेम निष्काम होता है

2. क्षमा

3. गुरु-भक्ति और वास्तविक दर्शन

4. गौतम बुद्ध जी के पांच मराकबे

5. दीनता7

6. नाभि में छिपी कस्तूरी से अनजान मृग के समान भटको मत

7. परमार्थ साधना में साध्य और साधन

8. प्रेमाभक्ति है

9. मन प्रतिक्षण चंचल रहता है

10.मानव जीवन का सच्चा सदुपयोग करें

11.मौन साधना क्या है ?

12.शांति की चाह हर व्यक्ति की की होती है

13.संतों की महिमा और हमारे गुरुजन

14.संसार में मोह ग्रस्त हो जाना - अगले जन्म को निमन्त्रण देना है

15.सच्चा पश्चताप और प्रार्थना

आत्मिक प्रेम निष्काम होता है - मन के प्रेम में बदले की भावना रहती है

रामाश्रम प्रकाशन ' नवनीत भाग २ ' में सम्मिलित परमपूज्य गुरुदेव डॉ. श्रीकृष्ण लाल जी महाराज के एक प्रवचन में गुरु महाराज ने फ़रमाया है कि, " मन का प्रेम बदला चाहता है और बदलता रहता है । हम ईश्वर से प्रेम इसलिए करते हैं कि हमारी दुनियाँ की ख्वाहिशें पूरी हों, हमें दुनियाँ में धन, सम्पत्ति, ऐशो-आराम मिलें । यह मन का प्रेम है । आत्मा का प्रेम बदला नहीं चाहता । जाँनिसारी (बलिदान, जान से न्यौछावर हो जाना) यानी सब कुछ दे देना चाहता है, लेकिन लेना कुछ नहीं चाहता । आत्मा का प्रेम प्राकृतिक है जो अंश को अंशी से होता है । आत्मा परमात्मा का अंश है और इस नाते वह अपने अंशी से स्वाभाविक प्रेम करती है । मन के प्रेम की एक पहचान यह भी है कि वह जिससे प्रेम करता है, उससे वैसा ही प्रेम चाहता है । उससे किसी दूसरे को प्रेम करता नहीं देख सकता । "

हम सब लोग भले ही ऊंची-ऊंची बातें करें परन्तु हम सब मन के स्थान पर हैं । हमारी छिपी हुई इच्छा है कि हमें किसी प्रकार का दुःख न हो, किसी प्रकार का अभाव न हो । कोई हमारी आशाओं के विरुद्ध न जाये । हम चाहते हैं कि हमारा पारिवारिक जीवन सुखमय हो, आनंदमय हो । सामजिक जीवन में हमारा कोई विरोध न करे । हमारा साम्राज्य हो । गुरुदेव ने फ़रमाया है कि हम लोग जब ईश्वर के चरणों में जाते हैं तो यही भिक्षा मांगते हैं कि हमें फलाँ प्रकार का सुख चाहिए - मेरी संतान को कोई दुःख न लगे, को मेरी लड़की की शादी जल्दी हो जाए या मेरा शारीरिक रोग मिट जाये । हम गुरु के चरणों में जब भी जाते हैं इन्हीं बातों के लिए, बहुधा सांसारिक पदार्थों के लिए, प्रार्थना करते रहते ।

गुरुदेव ने फ़रमाया कि ऐसा व्यक्ति मन के स्थान पर है, उसकी मोक्ष नहीं हो सकती । उसको आत्मिक प्रेम नहीं मिल सकता । जब उसकी इच्छा की, उसकी आशा की, पूर्ति नहीं

होती तो वह निराश हो जाता है, क्रोधित हो जाता है । हम कभी -कभी अपनी बुद्धि का संतुलन भी खो बैठते हैं । यह सच्चा प्रेम नहीं है, ईश्वर की सच्ची आराधना नहीं है । यह ईश्वर का सच्चा ध्यान नहीं है । सच्चा प्रेम, ईश्वर का प्रेम, आत्मा का प्रेम, आदि को हम ज्ञान कहते हैं । वह शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, यद्यपि महापुरुषों ने उसे समझाने का प्रयास किया है ।

जिसको आत्मिक प्रेम होता है उसकी स्वाभाविक प्रकृति अपने आपको पूर्णतः न्यौछावर करने की होती है, पूर्णतः खत्म करने की होती है । वास्तव में सच्चा प्रेम तभी प्राप्त होता है जब व्यक्ति अपना सब कुछ ईश्वर को भेंट कर देता है ।

जब लग मैं था गुरु नाहीं, अब गुरु है मैं नाहिं ।

प्रेम गली अति सांकरी, या में दो न समाहिं ।

जहाँ दो हैं, द्वैत है, वहाँ भक्ति तो हो सकती है किन्तु प्रेम नहीं हो सकता । प्रेम परमात्मा का दूसरा नाम है, एकता का नाम है, शुद्ध अद्वैत का नाम है । कोई शब्द रहते ही नहीं । कोई व्यक्ति जो उस रास्ते पर चल रहा है या पहुंचने वाला है वह तो कुछ-कुछ कह सकता है कि प्रेम कैसा होता है । परन्तु जिसने प्रेम में स्थिति प्राप्त कर ली है, जो ईश्वरमय हो गया है, जिसने आत्मानुभूति प्राप्त कर ली है, जो एक हो गया है, कहते हैं कि उसकी ज़बान बंद हो जाती है । उसका भाव यह है कि वहाँ शब्द रहते ही नहीं जहाँ शब्द हैं, वहाँ मन है । इस जगह आकर किसी प्रकार की मांग नहीं रहती । मांग तो दूर, कोई विचार ही नहीं रहता । किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं है । कोई राग-द्वेष नहीं है, छोटा-बड़ा नहीं है ।

सूफियों में कहते हैं कि, " अगर गुरु समझता है कि वह अपने शिष्यों से, अपने सेवकों से बड़ा है तो उसकी गर्दन काट देना चाहिए । यदि उसके शिष्य यह समझते हैं कि वे छोटे हैं, तो उनका सर कलम कर देना चाहिए । " जो ऐसा कहते हैं वे दोनों ही अहंकारी हैं । वे ख़ुदी में फंसे हुए हैं । सच्चे प्रेम में किसी प्रकार का विभाजन नहीं, द्वैत नहीं, इसलिए द्वेष नहीं है । वो प्रेम वास्तविक आत्मिक प्रेम है जिसमें इतना आनंद है कि हम उसके लिए मारे-

मारे फिरते है । परन्तु दुर्भाग्यवश हम मांग लेते हैं कि हमारे फलाँ काम सिद्ध हो जाये । इस तरह तो यह मन की बात हो गयी ।

परन्तु यहां प्रश्न उठता है कि सारा संसार क्या प्रेम की उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है ? नहीं । गिनती के लोग ही प्रेम के आयाम में प्रवेश करते हैं । बाकी जनसाधारण के लिए तो यही है कि उन्हें तो सर्वप्रथम धर्म तथा शास्त्र को अपनाना चाहिए । तमों गुणों का त्याग करके रजोगुणों का अभ्यास करना चाहिए । उसके बाद रजोगुण भी छोड़कर सतगुणों को ग्रहण करना चाहिए । आगे चलकर इन तीन गुणों से भी अतीत अर्थात गुणातीत हो जाना है । एकदम जो छलांग लगाएगा, वह गिरेगा । धीरे-धीरे चलना चाहिए ।

इसलिए हमारे देश में एवं अन्य देशों में भी भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है । भक्ति में एक ही धर्म के इष्ट प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक समाज के पृथक-पृथक होते हैं । जैसी-जैसी अस्थायें होती हैं, वैसे नियम बन जाते हैं और संसार में वही व्यक्ति सुखी रहता है जो इन नियमों का पालन करता है । जैसे बहुत मामूली सी बात है कि सत्य बोलना चाहिए, झूंठ नहीं बोलना चाहिए । परन्तु प्रेम में अपेक्षा रहती ही नहीं । वहां सत्य भी नहीं और झूँठ भी नहीं । जब तक हम सत्य के उस आयाम में नहीं पहुंचते हैं, हमें सत्य को अपनाना होगा एवं द्वैत को त्यागने का प्रयास करना होगा ये दोनों प्रयास जो हैं मन के हैं ।

आत्मा किसी प्रकार का प्रयास नहीं करती । यदि प्रयास रहता है, तो जिज्ञासु अभी इस स्थान पर पहुँचा ही नहीं है । जन साधारण को चाहिए कि वह धर्म के अनुसार जीवन जीने का भरसक प्रयास करे । धर्म का आसरा छोड़कर यदि वह अपने आप को यह समझ बैठे कि मैं प्रेम रूप हूँ, मैं प्रेम हूँ - तो वह किसी भी समय धोखा खा सकता है । बड़े-बड़े धोखा खा जाते हैं ।

परमहंस स्वामी रामकृष्ण को ज्ञान की साधना तो संत तोतापुरी जी ने सिखाई थी । रामकृष्ण जी के शिवनेत्र खोले थे - इस स्थान को जख़्मी करके । परन्तु वह बड़े ही सरल स्वाभाव के थे । अपना काम बना लिया । एक दिन बैठे थे तो तोतापुरी महाराज के पेट में बड़ी पीड़ा हो रही थी । पेचिश लग रही थी । घबरा उठे और कहने लगे कि अभी गंगा में जाकर आत्म हत्या कर लूँ । इस पर परमहंस मुस्कराये । उस मुस्कराहट में अर्थ था - यह कहना

आसान है कि मैं शरीर नहीं हूँ, प्राण नहीं हूँ, आनंद नहीं हूँ । परन्तु जब कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट आता है तब हमरी परीक्षा होती है कि हम कौन से स्थान पर हैं ।

तोता पुरी जी उच्चकोटि के ज्ञानी संत थे, समझ गए यह परमहंस जी की लीला है । वह बोले कि,

" मेरी भूल है, मंज़िल अभी दूर है । शरीर का बन्धन छोड़ना अनिवार्य है । परन्तु इसमें समय लगता है । परमात्मा किसी की परीक्षा न लें ।" स्वामी रामकृष्ण जी को भी गले का कैंसर था । भयंकर पीड़ा थी । कैंसर का रोगी ही जानता है कि कितनी पीड़ा तथा जलन होती है । महर्षि रमण का भी बाजू का घाव बाद में कैंसर बन गया । उन्होंने बड़ी सख्ती के साथ अपना आपरेशन करवाया । पीड़ा और शरीर का भान उन्हें नहीं हुआ, परन्तु फिर भी ख्याल तो उन्हें बना ही रहा होगा । याद तो सबके साथ बनी रहती है ।

स्वामी रामकृष्ण के सेवक उनसे अनुरोध करते थे कि आप अपना दुःख क्यों नहीं बाट देते । क्यों नहीं माँ से कहते कि मुझे इस दुःख से निवृति दें ? परन्तु स्वामीजी हंस कर कहते थे कि यह सब माँ की ही तो लीला है । वे ज्ञानी भक्त थे । ज्ञान की भी सिद्धि की थी और भक्ति में भी भगवत रूप हो गए थे । वे ईश्वर की लीला में संतुष्ट रहते थे ।

जेहि विधि राखे राम , तेहि विधि रहिये ।

यह ऊंचे संत की पहिचान है।दुःख भी दो ताकि मैं भी आपकी याद करता रहूँ और यदि सुख भी देते हो तो भी मैं आपको भूलंगा नहीं । भक्त क्या चाहता है ? *" राज न चाहूँ, मोक्ष न चाहूँ "* सच्चा सेवक न राज मांगता है, न बैभव मांगता है और न मोक्ष मांगता है । तो उसकी इच्छा है क्या ? वह तो प्रभु के चरण कमलों की प्रीत की भिक्षा मांगता है । प्रश्न है कि साधारण व्यक्ति क्या करे ? मेरा अपना विश्वास है कि साधारण व्यक्ति को यदि ईश्वर से अपने साधारण दुखों की निवृति के लिए प्रार्थना करनी पड़े तो कोई बात नहीं । पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि ऐसा करना भी चाहिए ।

यह दीनता है । यदि साधक मांगता नहीं तो वह अहंकारी है । परन्तु ऊंचे अभ्यासी के लिए किसी प्रकार की मांग करना आवश्यक नहीं है । उनका स्वाभाव ही ऐसा हो जाता है ।

साधना करते हैं कि सब कुछ ईश्वर का ही तो है । वह यही चाहते हैं कि यदि हमारे शरीर से किसी को दुःख पहुंचता है तो परमात्मा बेशक वह शरीर ले ले । हमारे मन से यदि किसी को दुःख होता है, तो हमारा मन ले ले । हमारे पास जो सम्पत्ति है यदि उससे किसी को कोई हानि पहुंचती है तो बेशक उस सम्पत्ति को हमसे छीन ले । उनकी तो, ऐसी प्रेमी की प्रवृति बन जाती है, स्वभाव बन जाता है, जैसे कि प्रभु का विरद है अर्थात सबका पालन-पोषण करना, अगरबत्ती की तरह स्वयं जलना तथा दूसरे को सुख पहुँचाना । ये लोग प्रयास से ऐसा नहीं करते । उनकी यह सहज, स्वाभाविक अवस्था हो जाती है ।

तो जैसे-जैसे व्यक्ति साधना करके प्रगति करता जाता है उसकी प्रार्थना में भी परिवर्तन आता जाता है । अन्त में वह एक ही प्रार्थना करता है - **" या रब तेरी रज़ा रहे और तू ही तू *रहे* / "** प्रभु तेरी इच्छा में ही मैं संतुष्ट रहूँ और मेरी मैं, मेरापन मिट जाये । तू ही तू रहे । "

हम में भिन्न-भिन्न श्रेणियों के साधक हैं, जिज्ञासु हैं । सबके लिए एक सी बात नहीं कही जा सकती । बच्चे हैं, नादान हैं, स्कूल में पढ़ते हैं । बहिनें हैं उनको परमार्थ का तो छोड़िये, संसार तक का भी पता नहीं है, बहुत सरलता होती हैं उनमें । यदि वे अपने दुखों की निवृति के लिए झोली फैलाते हैं तो कोई बुरी बात नहीं । यदि सच्चे ह्रदय से हम ईश्वर के चरणों में निवेदन करें तो वे हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हैं ।

परन्तु जो साधक परिपक्व प्रेमी होता है वह आगे बढ़ जाता है, स्नातक (ग्रेजुएट) हो जाता है । वो तो उसके प्रेम को - यहां तक कि प्रियतम को ही माँगता है । और आगे चलकर वह माँगता भी नहीं, वह तो अपने प्रियतम से तदरूप ही हो जाता है । वहां दो हों, तो माँग करे । पूज्य गुरु महाराज भक्ति के स्वरुप थे । परन्तु वो भक्ति को शिखर पर ले जाते हैं । भक्ति को और ज्ञान को सम्मिलित करके प्रेम के आयाम में पहुंच जाते हैं । भक्ति में तो द्वैत रहता ही है, चाहे साधक अद्वैत का अभ्यास करते हों । कबीर साहब इसको स्पष्ट करते हैं :-

" एक कहूँ तो है नहीं, दो कहूँ तो झूंठ "

जब हम कहते हैं कि ईश्वर एक है तो दूसरेपन का विचार मन में है, तभी तो एक कहते हैं । ईश्वर के प्रति पुजारी भला क्या बोलेगा? यदि वह एक कहता है तो दूसरेपन का विचार उसके मन में है, तो अभी उसकी मंजिल दूर है । जीवन के लक्ष्य से दूर है । यदि कह दे कि ईश्वर दो रूप में है तो यह भी उस शक्ति के लिए झूंठ है । ' तीन कहूँ तो गारि (गाली) ' यानि तीन कह दूँ या तीन देवता मानूँ जो सब कुछ है तो भी बहुत ग़लत होगा ।

' जो जैसा वैसा रहे, कहत कबीर विचार '

प्रभु को तो कुछ कहा नहीं जा सकता है कि एक है या दो या तीन । नेति नेति करते एक क्षण वह आता है जब नेति नेति करने वाला स्वयं नेस्त हो जाता है, ख़त्म हो जाता है । इतिहास में देखेंगे कि जिन महापुरुषों को छोटी आयु में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई उनका शरीर टूट गया । शरीर में इतनी शक्ति रह ही नहीं सकती । उसी शरीर में यह शक्ति रह सकती है जो इसकी साधना करता है, परन्तु धीरे-धीरे बढ़ता है ।

' सहज पके सो मीठा होय '

यह सिद्धांत कितना अच्छा और सत्य है । आपकी शक्ति दो प्याले पीने की है और कहा जाये कि यह बहुत ही अच्छा है, दस प्याले पी लो तो क्या होगा ? हज़म ही नहीं होगा ।

इसी प्रकार आत्मा महान है तो पूर्ण आत्मिकता को हज़म करने के लिए बड़ी शक्ति चाहिए । वह शक्ति आती है साधना से, धीरे-धीरे। आप देख लीजिये जितने महापुरुष हुए हैं, छोटी आयु में चले गए । स्वामी विवेकानंद जी, ज्ञानदेव जी, स्वामी रामतीर्थ आदि । एक और संत मद्रास में हुए । उन्होंने एक पुस्तक लिखी है जो इतनी महान है कि उच्च कोटि के वेदांती भी आश्चर्य करते हैं । वह बाईस वर्ष की आयु में चले गए ।

प्रेम की बातें सुनकर मन बड़ा रोमांचित होता है, बड़ा अच्छा लगता है । वह हमारा लक्ष्य भी तो है, परन्तु धीरे-धीरे गुरुदेव फरमा रहे हैं कि जब हम कुछ मांगते हैं तब हम मन के स्थान पर हैं - चाहे वह कितनी ही अच्छी मांग क्यों न हो । सच्चे साधक को किसी प्रकार की आशा नहीं रहती । उसकी प्रकृति या परमात्मा का विरद, ये सब एक ही हो जाते हैं । साधक का स्वभाव यह हो जाता है कि उसका सब कुछ न्यौछावर है । वह अपने लिए कुछ नहीं

मांगता। वह मांगेगा क्या ? वह तो ईश्वर रूप हो गया, ईश्वर बन गया । मांगता वह है जिसके ह्रदय में कुछ विचार उठता हो, वहां तो कोई तरंग है ही नहीं। आत्मा में कोई तरंग है ही नहीं ।

अपने भगवान शिव की मूर्ति देखी है । मूर्ति देखकर ही समाधी लग जाती है । भगवान बुद्ध भी शिव भगवान की तरह बिलकुल शांत हैं । उनकी शांत मुद्रा देखकर हमारे मन में भी शांति उत्पन्न हो जाती है । ऐसी स्थिति प्रेमी की हो जाती है। वहां एक बात और है कि प्रेम किसी भाव से व्यक्त नहीं होता । साधारण आदमी को पता नहीं लग सकता कि यह आदमी कौन है । यह प्रेमी कौन है। उसकी एक ही पहचान है कि उसके पास मौन में बैठने से हमें भी प्रेम की अनुभूति होने लगती है । हमारा मन भी स्थिर होने लगता है । हमारे मन में जो विकार हैं, खत्म होने लगते हैं । हमारे भीतर में भी यह चाह उठती है कि शांति से बैठ जायें, बैठे रहें ।

मैं पूज्य गुरुदेव के साथ कसौली में एक संत से मिलने गया। वह बड़े फ़क़ीराना ढंग से रहते थे । हम जब वहां पहुंचे तो उन्होंने एक चटाई सी बिछा दी । गुरु महाराज भी वहां बैठ गए । वह बंगाली साधू कुछ बोले ही नहीं । पूज्य गुरुदेव ने भी कोई प्रश्न नहीं किया । एक घंटे तक इसी अवस्था में बैठे रहे । तब साधू महाराज ने आशीर्वाद दिया और हम चले आये । पूज्य गुरुदेव ने मुझसे पूछा, " कहो कैसा लगा ?" मैने निवेदन किया कि " एक अजीब सा नशा जिसमें अद्भुत आनंद था वही प्राप्त होता रहा ।" गुरुदेव ने फ़रमाया, " यही सच्चे संतों की हाज़िरी का तोहफ़ा है, बिना मांगे मिलता है । "

' पूज्य गुरुदेव हमें शक्ति दें '

राम सन्देश " सितम्बर -अक्टूबर, २००३

`

क्षमा : एक विशेष ईश्वरीय वरदान

परमार्थ के कई रूप हैं । भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने परमात्मा के रूप को, परमात्मा के गुणों को, परमात्मा के अस्तित्व को भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है । प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने संस्कार होते हैं । उन संस्कारों के अनुसार वह भक्ति, साधन द्वारा वह ईश्वर की ओर बढ़ता है - उसका तरीक़ा अलग-अलग होता है । इसलिए गीता में भगवन कृष्ण ने दुसरे अध्याय में ज्ञान की शिक्षा दी है । अर्जुन विद्वान था, शास्त्रज्ञ ओर ज्ञानी था । परन्तु वह विज्ञानी नहीं था इसलिए जब जब ज्ञान की बात उसे समझाई गयी तो वह पूछता है भगवान से कि- ' स्थितिप्रज्ञ व्यक्ति रहता कैसे है, उसका व्यवहार कैसा होता है '? भगवान ने एकता का वर्णन किया तो अर्जुन पूछता है, ' एकता में रहकर, अर्थात ईश्वर से तदरूप हुआ उच्च कोटि का ज्ञानी संसार के साथ काम कैसे करता है ?'

उसके पास चुनौती थी । अर्जुन के सामने कुरुक्षेत्र का मैदान था । लाखों आदमी खड़े थे एक दूसरे का बध करने के लिए । उनको देखकर वह कहता है कि ," ज्ञानी पुरुष वहाँ जाकर कैसे लड़ाई लड़ता होगा ?" उसे भगवान समझाते हैं कि, " वह व्यक्ति सब परिस्थितियों में सम-अवस्था में रहता है ; दुःख आ जाये तो विक्षिप्त नहीं होता, सुख आ जाये तो फूलता नहीं । वह एक-रस सामान्य रहता है । हानि-लाभ, दुःख-सुख, सर्दी-गर्मी उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं लाते।' अर्जुन प्रश्न किये जा रहा है ओर भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उत्तर दिए जा रहे हैं । परन्तु केवल शब्दों के सुन लेने से ही तो कुछ नहीं होता ।

भगवान् ने ईश्वर प्राप्ति के कई साधन बताये। पहले ज्ञान बताया फिर दूसरे अध्याय में सांख्य बताया । फिर तीसरे चौथे में कर्म ले लिया । हमारे शास्त्रों में दो मुख्य साधन हैं- एक ज्ञान का ओर एक कर्म का । कर्म का मतलब यह है कि कर्म के द्वारा भी मुक्ति हो सकती है । जो व्यक्ति सतकर्म करे, शास्त्रानुसार कर्म करे, गुरु के आदेशानुसार कर्म करे, कर्म के फल के साथ उसका बंधन न रखे। कर्म करे तो धर्मानुसार, समाज के हित के लिए, निस्वार्थ होकर, यज्ञ की भांति करे परन्तु उस कर्म का भला-बुरा जो भी फल हो, उससे विक्षिप्त न हो । यदि

कर्म का फल आशानुसार अच्छा हो जाय तब भी उसमें अहंकार नहीं आना चाहिए ओर यदि आशा के प्रतिकूल हो जाय तो निराशा नहीं होनी चाहिए । यह बहुत कठिन है । कोई भी व्यक्ति यह बिना सोचे हुए काम नहीं करता कि उस काम का अमुक फल होगा। वह हमेशा यह ख्याल रखता है कि मैं जो भी करूँ उसका फल मेरी आशा के अनुकूल,हो ।

शास्त्र कहते हैं कि व्यक्ति या तो ज्ञान पद्धति को अपना ले या कर्म मुक्ति को अपना ले, दोनों में से यदि कोई नहीं अपनाता तो उसको शास्त्रों में 'राक्षस' कहा है । वास्तविक ज्ञान साधना यही है । जितनी भी साधनायें बनती हैं - ज्ञान की, कर्म की, भक्ति की, योग की, सन्यास की, - सबका सार यही सिद्ध करता है कि साधक साधना करते समय उस आयाम में पहुंचता है जहां वह यह अनुभव करता है कि वह ओर परमात्मा एक है । वह, परमात्मा ओर संसार सब एक हैं - एक ही जीवन है । अंग्रेजी में इसे 'लाइफ' (लाइफ) कहते हैं । इसी को सत कहते हैं, सतनाम का नाम भी सत है । शास्त्रों में बहुत से उदाहरण हैं । यहां दो तीन उदाहरण दिए जाते हैं कि भगवान प्रभु स्वयं ही रसिया हैं, स्वयं ही रस हैं, ओर स्वयं ही रस पान करते हैं, रस लेते हैं ।

यह प्रत्येक व्यक्ति की समझ में नहीं आता कि भगवान् स्वयं ही रस हैं और रसास्वादन भी स्वयं करते हैं । यह क्या लीला है ? मछली भी आप हैं, मछली को पकड़ा जाता है वह भी प्रभु आप ही करवाते हैं । आप ही कर्ता, आप ही भर्ता यानी कर्म करने वाले भी आप हैं, जो क्रिया है वह भी आप हैं और जिस पर क्रिया की जाती है वह भी आप हैं। साधना करते-करते व्यक्ति सुषुप्ति में पहुंचता है । जैसे रोज़ ही आपको यह अनुभव होता है कि प्रगाढ़ निंद्रा में कोई भी विचार नहीं उठता । कुछ देर में जब आप सोकर उठते हैं तो कहते हैं कि आज आपको बहुत आनंद आया। इसी प्रकार व्यक्ति साधना करते-करते निर्विचार हो जाता है तथा उस स्थान पर जहां एकता है वह वहाँ पहुंच जाता है । परन्तु यह सुषुप्ति जड़ता बन जाती है यदि इसमें गुण नहीं है । मूर्ख व्यक्ति भी सुखी रहता है और ज्ञानी भी । बीच के जो लोग हैं खास कर राजसी वृत्ति वाले वे दुखी रहते हैं, अशांत रहते हैं ।

प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है कि हमारा मन नहीं लगता, मन स्थिर नहीं रहता, इतने साल हो गए फिर भी अशांति बनी हुई है, शांति नहीं मिलती । इसके कारण हैं । न तो ज्ञानी ने

पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और न ही उनमें भक्ति आयी । स्पष्ट कहें तो उन्हें बुरा लगता है । जिसको ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है वहाँ तो एकता है - परमात्मा और आत्मा एक हैं । अशांति कहाँ होती है जहां एक से अधिक व्यक्ति हों । जहां दो होंगे वहाँ अशांति स्वाभाविक है । जहां दो होंगे वहाँ राग-द्वेष स्वाभाविक है - जब तक दोनों ज्ञानी न हों ।

हम देखते हैं कि परिवार में स्त्री-पुरुष ख़ामख़्वाही में छोटी-छोटी बातों पर लड़ते हैं । कभी एक दिन कुछ खोटी-खरी बात हो जाये तो महीनों सुलह सफाई नहीं होती । इतना है एक दूसरे को स्नेह । और उनके मन में राग-द्वेष कितना है कि भाई-भाई में एकता की अनुभूति नहीं है । माता-पिता में बच्चो के साथ एकता नहीं है । एक दूसरे के प्रति राग-द्वेष की भावना रखते हैं । यह भगवान की लीला नहीं है । यह मनुष्य की अपनी बनाई हुई है । भगवान ने तो एकता दी है । भगवान ने तो आत्मा दी है जो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में है और आनंद का स्रोत भी प्रत्येक व्यक्ति में है । परन्तु वह अपने अहंकार के कारण उस स्रोत तक नहीं पहुंच पाता । इसीलिए गुरु महाराज ने कहा है कि, " जहां अहंकार है वहाँ न तो ईश्वर का प्रेम मिल सकता है,न संसार के सुख मिल सकते हैं, न सच्चा नाम मिल सकता है, न ही सच्ची भक्ति मिल सकती है और न ही सच्चा ज्ञान मिल सकता है । "

तो यह 'सुहागन' स्थिति बतलायी है गुरु महाराज ने । यह वह स्थिति है जहां साधक और सिद्धि, परमात्मा और साधक दोनों एक हैं । सुषुप्ति में यदि कोई महापुरुष नज़र आता है तो उसकी सहायता मिल जाती है । वह रास्ता देखे हुए होता है तो साधक को इस अंधकार से (सुषुप्ति में होश नहीं होता) निकाल देता है । सुषुप्ति कोई उत्तम अवस्था नहीं है। यह तब उत्तम अवस्था बनती है जब इसके साथ ईश्वर के गुण होंगे । बिना गुणों के भक्ति नहीं हो सकती । इसका यह अर्थ है कि कोई भी साधना नहीं हो सकती । ईश्वर की प्राप्ति का कोई भी रास्ता अपनाएं - पर यदि सद्गुणों को नहीं अपनाएंगे तो किसी भी प्रकार की पद्धति अपना लें - आपको सफलता नहीं मिलेगी, भक्ति नहीं मिलेगी । भक्ति का यह अर्थ नहीं है कि किसी तस्बीर की पूजा करो । कोई भी साधना करो, सदगुणों को तो अपनाना ही होगा । यह मानो नीव है । वैसे भी देख लीजिये जो व्यक्ति सदव्यवहार करता है, जिसके ह्रदय में सदविचार उठते हैं और जो सद्गुरु को अपनाता है तो उसके ह्रदय में शांति उतपन्न हो जाती है । इसीलिए भगवान कृष्ण गीता के बारहवे अध्याय में अपने भक्त के लक्षण बताये हैं और

कहते हैं कि मुझे वह भक्त प्रिय है जिनमें ऐसे गुण हैं । यहां भक्त के अर्थ हैं साधक के जिसके लिए गीता के तेरहवे श्लोक से लेकर बीसवे श्लोक तक बहुत से गुण बताये हैं । तेरहवे श्लोक में ही भगवान ने बहुत कुछ बता दिया है । तो पहला संकेत यही है , पहला गुण यही है 'अद्वेषता' अर्थात उसके मन में किसी के प्रति तनिक भी द्वेष की भावना न हो । शत्रु के प्रति भी द्वेष भावना न हो ।

हम जो रोज़ अख़बार पढ़ते हैं तो हमारे भीतर जिस प्रकार की भावना होती है हम उसी के अनुसार अखवार पढ़ते हैं । जो खबर हमारी भावना के अनुकूल होती है उससे हमें ख़ुशी होती है और जो घटना हमारी भावनाओं के प्रतिकूल होती है उससे हमें दुःख होता है । राग उतपन्न हो जाता है । भगवान जिस पहले गुण की अपने भक्त से आशा रखते हैं वह है अद्वेषता' । किसी से द्वेष न हो । इसी श्लोक में अंतिम गुण बताया है- 'क्षमा' । व्यक्ति क्षमा शील हो । पर क्षमा ऐसी नहीं कि केवल अपने बेटे को क्षमा कर दे । हज़रत ईसा कहते हैं कि जो तुम्हें दुःख दे उसे क्षमा करो । परमात्मा का मुख्य गुण है - 'क्षमा' । वह साधक को कहते हैं कि , 'क्षमा सेवेंटी टाइम सेवन ' यानी यदि हज़ारों बार भी तुझे क्षमा करनी पड़े तो क्षमा किये जा ।' तुम्हारा स्वाभाव ही क्षमा का होना चाहिए बदले का नहीं । द्वेष की भावना न हो ।

स्वामी रामानुज जी गंगा स्नान करने आते हैं । एक पठान घाट पर आता है । सीढ़ियां बहुत हैं । जब स्वामी रामानुज स्नान करके सीढ़ियों पर चढ़ कर वापस जाने लगते हैं तो वो ऊपर बैठा हुआ पठान उन पर थूक देता है। तब स्वामी जी पुनः जाते हैं गंगा स्नान करने के लिए, कपड़े बदलने के लिए। यही शरारत बार बार होने पर भी स्वामी रामानुचार्य जी के मन में बुरी भावना नहीं थी कि उस जनूनी पठान ने क्या किया । यह आत्मा का गुण है और क्षमा का अद्भुत उदाहरण है ।

राम सन्देश : मार्च , १९९२

गुरु भक्ति और वास्तविक दर्शन

हमारी संस्कृति में यह विचारधारा रही है कि हम जब तक गुरु धारण नहीं कर लेते, तब तक हमारा उद्धार नहीं होता । नारद जी के ह्रदय में एक उत्सुकता उत्पन्न हुई कि भगवान विष्णु से पूछें कि उनके गुरु कौन हैं ? वह भगवान के निकट रहते थे, उनसे बात करने में संकोच नहीं करते थे । उन्होंने भगवान से पूछा कि आप सबसे कहते हैं कि गुरु धारण करने चाहिए, कृपा करके आप बतलायें कि आप के गुरु कौन हैं ? भगवान मौन रहे । परन्तु उनकी आँखों से प्रेम के अश्रु बहने लगे । नारदजी चंचल प्रकृति के थे । उन्होंने पुनः पूछा कि, " आप बताते क्यों नहीं, संकोच क्यों करते हैं । ? " भगवान इतने भाव-विभोर हो रहे थे कि चाहते हुए भी नहीं बोल पा रहे थे । बार-बार नारद जी के कहने पर कि " आपके गुरु कौन हैं, भगवान विष्णु उत्तर देने की कोशिश करते हैं । एक ही अक्षर उनके मुखारविंद से निकला है ' गो ' , वह कहना चाहते थे ' गोपी ' परन्तु 'गो' कहकर ही ध्यानमग्न हो गए । गोपियाँ उनकी गुरु हैं । सोचिये, यह कैसी बात है कि भगवान को भी गोपियों को गुरु कहना पड़ा ।

गुरु हमारे जीवन का एक आदर्श है । आप जो कुछ भी बनना चाहते हैं, उसका आदर्श ही गुरु है । किसी व्यक्ति की सहायता से आपको आदर्श की प्राप्ति हो सकती है तो आप उसको अपना गुरु बना लेते हैं । भगवान प्रेम स्वरुप हैं । भगवान कृष्णा गोपियों के साथ रासलीला करते हैं । प्रेमियों की रासलीला है, न तो किसी मर्यादा का पालन करती है, न संसार की लज्जा का ख्याल रखती है । गोपियाँ दौड़ी-दौड़ी भगवान के चरणों में पहुंच जाती हैं । भगवान उनके प्राण हैं । उनका शरीर भगवान हैं । उनका जीवन भगवान हैं। भगवान के लिए ही जीना है। भगवान विष्णु उन्हें 'गो' कहते हैं और ध्यान-मग्न हो जाते हैं।

नारद जी ने भक्ति-सूत्र में नवधा - भक्ति का वर्णन किया है - अपने प्रियतम की याद में हर समय रहना, उसके गुणों को सराहना, संसार के वैभव की लालसा न करना, संसार के पदार्थों की इच्छा न रखना, यहां तक कि मुक्ति को भी तुच्छ समझना, आदि। सब कुछ ही प्रेममय हो, यह प्रेम की साधना है - भक्ति है । यही कान्ता भाव है । जो लोग भक्ति के रूप

को नहीं समझते वे भगवान कृष्ण और राधा जी के प्रेम की आलोचना करते हैं । यहाँ तक कि पढ़े-लिखे आदमी भी ऐसा करते हैं । यह अज्ञान है, नासमझी है । मन के स्थान पर बैठा हुआ व्यक्ति कान्ताभाव को क्या समझे ? कान्ताभाव है - ईश्वर में लय हो जाना, ईश्वर बन जाना। संसार में जन्म धारण करके प्रेम की लीला द्वारा ऐसी उपलब्धि प्राप्त कर लेना ।

यह भक्ति कैसे की जाती है ? सूफ़ियों में पहले ' फ़ना ' होना यानी गुरु में लय होना बताया जाता है । फ़ना का सही मतलब है अपने आप को ख़त्म कर देना, गुरु या ईश्वर में लय कर देना, अपना अस्तित्व समाप्त करके मालिक (ईश्वर) का अस्तित्व मानना । यह अंतिम चरण नहीं है । इसके आगे है ' बक़ा '। हिंदी में उसे कहते हैं -'पुनर्जीवन ' । इसमें जाकर ईश्वर आज्ञा के अनुसार जीते जी पुनर्जन्म लेना। संसार के प्राणियों को अपनी ईश्वर-मय जीवन लीला से ईश्वर प्राप्ती का रास्ता बताना । ऐसे व्यक्ति को गुरु या संत कहते हैं । सामान्य व्यक्ति यह समझते हैं कि एक बारगी लय हो गए, बूँद सागर में मिल गयी, सागर रूप हो गयी और उसकी जीवन यात्रा पूरी हो गयी ।

अरविन्द जी इसको पूर्ण यात्रा नहीं मानते, न हमारे यहाँ की संस्कृति यह मानती है कि यह अन्तिम चरण है । अरविन्द जी कहते हैं कि यह स्वार्थ है। एक व्यक्ति की अपनी ही मोक्ष हो जाये, यह स्वार्थ है । यदि किसी व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त करना है तो उसे सारे संसार का उद्धार करना चाहिए। इसलिए महापुरुष ईश्वर में लय होने (फ़ना होने) के बाद ' दूसरा जन्म ' लेते हैं तो संसार की सेवा करते हैंयदि आपको किसी गुरु ने अपनाया है तो यह गुरु ऋण आपको उतरना है । गुरु आपसे पैसा नहीं माँगता, मान, सम्मान नहीं माँगता, आपकी सेवा भी वह नहीं माँगता, तो फिर उसका ऋण उतारने का साधन क्या है ? आप स्वयं पवित्र बनें, निर्मल बनें, आपका आचार-व्यवहार ऊँचा हो, संसार से मुक्त हों। स्वयं निर्मल होकर कोशिश करें कि संसार के अन्य लोगों को भी निर्मल बनायें। आपको जो आनंद प्राप्त हुआ है उस आनंद की प्रसादी को जितना भी आगे बढ़ा पायें, बढ़ाएं और बांटें ।

इसका मतलब यह नहीं कि हमें गुरु बनना है । सेवक बनकर भी तो सेवा की जा सकती है । जो वृक्ष है उसका आधार धरती के भीतर जल है। छोटा सा पौधा बड़ा वृक्ष बन जाता है, फूल लगने लगते हैं , फल आते हैं, सुगन्धि निकलती है । परन्तु आधार तो केवल

जल ही है । वृक्ष का प्रत्येक भाग संसार की सेवा करता है। पत्तों से छाया मिलती है, पुष्प सुगन्धि देते हैं, फल को जीव-जन्तु और मनुष्य सेवन करते हैं। जड़ और बड़ी-बड़ी डालों से लकड़ी के विविध सामान बनते हैं ।

इसी प्रकार जीवन भी एक वृक्ष है। इसका आधार परमपिता परमेश्वर है । आपके भीतर में उस परमात्मा का अंश है जो और सबके भीतर भी है । उस अंश का विकास आपको करना है। उस आत्मा (परमात्मा) के जो गुण हैं आपको उन्हें अपनाकर उनका विकास करना है । अपना भी उद्धार करना है और तमाम संसार का उद्धार करना है । आपके संपर्क में जो भी व्यक्ति आये, आपको अपने व्यवहार से उसको प्रेरणा देनी है कि वह भी अपने आदर्श के प्रति विचारशील होवे । सोचे कि यह गुरु का ऋण है जो मुझे उतारना है । यह ज़रूरी नहीं है कि आप गुरु बनें और शिष्य बनाएं तभी गुरु-ऋण से मुक्त हो सकेंगे। आप गांव में रहें या शहर में, अपने विकासशील गुणों से, अपने व्यवहार से संसार की सेवा करें । आपका जीवन सद्‌गुणों से भरा हो। संसार अज्ञान में है - अपने जीवन को आदर्शमय बनाकर इसे ज्ञान का प्रकाश दें। यह है गुरु के ऋण से उऋण होना ।

वास्तविक प्रभु दर्शन

प्रत्येक मनुष्य में लालसा रहती है कि वह प्रभु के दर्शन करे । हरिद्‌वार जाते हैं, गंगा जी में स्नान करने के लिए । कई लोग बनारस जाते हैं दर्शन करने के लिए । इसी प्रकार अन्य तीर्थों में भी दर्शन करने के लिए जाते हैं। आप लोग दर्शन क्यों करते हैं ? मंदिरों, गुरुद्‌वारों, गिरजों के 'दर्शन' का मतलब क्या है ? हरिद्‌वार गए, जाकर हरि की पौढ़ी में स्नान किया। वहीं मेला-तमाशा देखा, सैर-तफ़री की, खाया-पिया और इसी भ्रमण -यात्रा को समझते हैं कि दर्शन हो गए। यह दर्शन नहीं हैं । - दर्शन का वास्तविक अर्थ कुछ और ही है । दर्शन का अर्थ है कि जो गुरु है, परमात्मा है, हम यदि वैसे ही बनते जाते हैं तो समझना चाहिए कि हमें दर्शन का लाभ प्राप्त हो रहा है। रस्मी तौर पर, दिखावे के तौर पर, किसी महापुरुष के दर्शन करना या किसी तीर्थ के दर्शन करना इतना अधिक लाभप्रद नहीं होता। वास्तविक दर्शन का मतलब तो यह है कि जैसे कबीर साहब ने कहा है - ईश्वर जैसा हो जाना। सागर के जल में वही गुण हैं जो उसकी एक बूँद में हैं । आत्मा के भी वहीं गुण हैं जो परमात्मा के हैं। लेकिन कब - जब

आत्मा पर से सब आवरण हट जाते हैं। कुछ लोग सन्यासी बन जाते हैं, सिर मुड़ा लेते हैं । यह प्रतीक है चित्त निर्मल होने का । कोई इच्छा नहीं रही । अग्नि या गेरुए के कपड़े भी रंगवा लेते हैं । व्यवहार भी अग्नि के समान हो जाता है । अग्नि सबको भस्म कर देती है, सब चीज़ों को जला देती है । इसलिए सन्यासी भी अपने सब संस्कारों को, सब इच्छाओं को, आशाओं को जला कर सन्यासी बनता है। तब जाकर वह ईश्वर-दर्शन का अधिकारी बनता है ।

सब साधक भाइयों को इस तरफ़ गंभीरता से ध्यान देना चाहिए । गुरु महाराज के दर्शन कर लिए और यह समझ लिया कि इतना ही काफ़ी होगया। ऐसा नहीं है । नए भाई निराश नहीं हों । पुराने भाइयों से करबद्ध निवेदन है कि वे प्रयत्न करें, प्रयास करें प्रभु-दर्शन के वास्तविक अर्थ को पाने का । अपने सारेजीवन को ईश्वरमय बना लें । जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे, ईश्वर के गुण हममें नहीं आयेंगे। एक सुन्दर प्रसंग है। भगवान श्रीराम हनुमान जी से पूछते हैं कि, " आपका स्वरूप क्या है ? हनुमान जी उत्तर देते हैं कि, " जहां तक शरीर है, मेरी अवस्था सेवक की है। जब मेरी सुरति मन पर होती है तब आपका साथी हूँ, जब बुद्धि पर हो तब ज्ञानी हूँ, और जब आत्मा पर हो तब मैं और आप एक ही हैं ।

इसी को गुरुवाणी में लिखा है कि 'अक्षुण तृप्ति' हो जाती है । नामी को भीतर में समा लिया । तभी जाकर जितनी तृष्णाएं थीं सभी समाप्त हो गयीं और अब इतनी तृप्ति है कि अब कोई इच्छा शेष ही नहीं रहीं। तो जब तक ईश्वर के वास्तविक दर्शन नहीं होते, तब तक प्रत्येक व्यक्ति में इच्छाएं उठती रहती हैं। परन्तु लक्ष्य हम सबका यह होना चाहिए कि हमें ईश्वर के वास्तविक दर्शन करने हैं और उन दर्शनों के लिए हम सबको हर तरह का बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

गुरुदेव सबका कल्याण करे । राम सन्देश : सितम्बर १९९३

गौतम बुद्ध जी के पाँच मराकबे

महात्मा गौतम बुद्ध ने जो मराकबे (ध्यान) अपने शिष्यों को तालीम फ़रमाये हैं वह नीचे लिखता हूँ । उनको पढ़कर सत्संगी भाई खुलासाइन मराकबों को समझ लें । मतलब तो नियत फैल (कर्म) और ख्यालात में अपनी और दुनियाँ की भलाई के लिए, न कि कोई ख़ास सूरत मराकबे के ज़रिये से ऐसी ही क़ायम रही और वैसी करनी न बने । बज़ अभ्यासियों को ऐसे मराकबों से सिर्फ़ एक हालत और कैफियत पैदा हो जाती है और चंद दिन के लिए सिर्फ़ एक जो कि कैफियत पैदा हो जाती है और जाहिरी आभा की पहलू कभी अख्त्यार नहीं किया जाता है। मसलन हर ज़र्रे में उसी का जलबा नज़र आता है या अपने आपको सब ज़र्रात और मखलूक को अपने में देखता है, वग़ैरा वग़ैरा। लेकिन ये सब बातें तस्सलीबक्श नहीं हैं । तावकते कि उस हालत के मुताबिक़, जाने या अनजाने, इरादे या बिला इरादे, कामना होने लग जाये । मसलन आप सड़क से गुज़र रहे हैं और एक चार बरस का बच्चा सर्दी की वजह से काँप रहा है और उसके पास कपड़ा नहीं है इसलिए रो रहा है । आपके पास दो रूपये जेब में मौज़ूद हैं और थोड़ी देर में आप उन रुपयों से दिवाली के दिन बाज़ार से एक तस्बीर खरीदना चाहते हैं । अब इस मुकाम पर अगर आपकी मसनुई या जो कि कैफ़ियत इज़ाज़त दे कि बच्चे के लिए कपड़ा खरीदकर दिया जाये या तस्बीर को खरीद ही लिया जाये तो मेरे ख्याल से मराकबे से या अभ्यास से या किताबी इल्म से हासिल की हुई कैफ़ियत कोई हस्ती नहीं रखती ।

(अमृत रस पृष्ट ७४-७५)

प्रवचन

हम सत्संग में आकर या घर में ही बातें करते हैं, सुनते हैं, लेकिन उन बातों के कहने-सुनने से कोई असर नहीं होता जब तक कि हम महापुरुषों के अनुसार अपना जीवन न बदल लें । उदाहरण के रूप में पूज्य गुरुदेव ने फ़रमाया है कि आपके पास कुछ रूपये हैं, आप उन रुपयों से दिवाली के दिन बाजार से तस्बीर खरीदना चाहते हैं । आप रास्ते में देखते हैं कि एक छोटा सा बच्चा ठंड से कांप रहा है, उसके पास कपड़े नहीं हैं। आप उन रुपयों से तस्बीर खरीदना पसंद करेंगे या जो बच्चा ठंड़ से कांप रहा है उसको कपड़ा दिलवाएंगे। आपको दोनों में से कौन सी बात अच्छी लगेगी ? सामान्यतः हम खुदगर्ज़ हैं। दूसरे को दुखी देखकर हम उसका दुःख दूर करने का प्रयास नहीं करते । परिणामस्वरूप आपके भीतर में जो सद्गुण आने चाहिए वे नहीं आते। जो सद्गुण आपको आत्मा के समीप ले जाते, उनसे आप वंचित रह जाते हैं । केवल पढ़ने-लिखने से कुछ नहीं होता, हमें अपने व्यवहार और विचारों को बदलना होगा । उसके परिणामस्वरूप आपमें महापुरुषों के गुण आने चाहिए । ये गुण सहज में ही आपके जीवन में उतरने चाहिए । आपको एक भूखा व्यक्ति मिलता है । आपकी जेब में कुछ रूपये हैं, आप उसे दे दें । आप बाजार से अपने लिए कीमती चीज़ लाने के बजाय उसकी भूंख मिटायें । तब आपको समझना चाहिए कि आपको सत्संग और सत्संग के नियमों का ज्ञान हो गया है । आपका ऐसा स्वभाव बन जाए अन्यथा जैसा होता है, आपका मन पत्थर हो जाता है । आप कितना ही बोलते चले जाइये, दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह स्थिति हम सबकी है। हम भाषण देते हैं, सुनते है, सत्संग में आकर महापुरुषों की कथा भी सुनते हैं पर हम उन प्रेरणादायक वचनों को अपने जीवन में उतारने का प्रयास नहीं करते ।

पूज्य गुरु महाराज एक कहानी सुनाया करते थे । एक व्यक्ति अपने परिवार के पत्नी और चार बच्चों को लेकर भोजन खाने बैठा। उसी वक़्त एक साधू आया । वह साधू बोला " मुझे बहुत भूंख लगी है । मुझे खाना खिलाओ।" वह व्यक्ति बोला, "मेरे चार बच्चे हैं, मैं यदि यह खाना आपको दे दूंगा तो मेरे बच्चे भूखे रह जायेंगे । मैं और मेरी पत्नी भूखी रह जाएँगी । बच्चों को भूखा देखकर मैं सुखी नहीं रह पाऊंगा।" फ़क़ीर बोला, " आपकी बात ठीक है पर मुझे

भूख लगी है, मुझे खाना खिलाइये।" वह व्यक्ति राज़ी हो गया उसने अपनी पत्नी का और अपने हिस्से का खाना फ़क़ीर को दे दिया । और स्वयं दोनों भूखे रहे। फ़क़ीर वह भोजन करने के बाद बोला, " मेरी भूख तो कम नहीं हुई, इससे कुछ नहीं हुआ । " कभी-कभी ईश्वर हमारी परीक्षा लेता है । उसने सारा भोजन उस फ़क़ीर को दे दिया और पूरा परिवार भूखा रहा । वह साधू बोला, " आपने केवल मुझे ही खाना नहीं खिलाया है, सैकड़ों जीवों को खाना खिलाया है, आपके बच्चे कभी भूखे नहीं रहेंगे । " ईश्वर की कृपा से उस व्यक्ति के परिवार को भरपूर भोजन मिलता रहा और वे जीवन भर सुखी रहे । यह अपने अच्छे कर्मों का परिणाम है । अच्छा काम वही कर सकता ही जिसका मन अच्छा हो। हमें अपने मन को साधना है । ईश्वर में, महापुरुषों में, सबको अपने जैसा देखना तथा सब में ईश्वर के दर्शन करना - यह हृदय की विशालता है । हम सबको यही करना है। पापी व्यक्ति स्वयं दुखी रहता ही और समाज को भी दुखी करता रहता है ।

" यह एक मिसाल है। इस किस्म की हज़ारों मिसालें मौजूद हैं। खुलासा और नतीज़ा यह निकलता है कि इल्म , ज्ञान, कैफ़ियत और हालत से ऐसी आदत बन जानी चाहिए कि हर कर्म बिना इरादे उसी आदत के मुताबिक होने लग जाए॥ (अमृत रस पृष्ठ -७५)

हम अपना जीवन महापुरुषों के जीवन के अनुसार बनायें । जीवन की प्रगति के लिए अधिक महनत नहीं करनी चाहिए । अनुभव के सहारे हम बन जायें। हम महापुरुषों के पास जाते हैं, उनके उपदेश सुनते हैं । हमारा स्वभाव ही ऐसा बन जाए। कथा सुनने से पहले किसी योग्य पंडित को भोजन करा दो । पंडित भी एक घंटे देर से आते हैं। चिंता मत करें, प्रतीक्षा करें। जब तक पंडित जी न आजायें खुद को या परिवार को भोजन नहीं करना चाहिए। अर्थात पहले दूसरे को सुखी बनायें फिर अपना सुख बाद में । तब ईश्वर की कृपा से आपका ऐसा स्वभाव बन जायेगा। आप दूसरों को सुखी बनायेंगे तो ईश्वर आपको सुखी बनायेगा । यदि दूसरों को दुखी देखकर आपके हृदय में कोमलता नहीं आती तो आपमें आत्मिक गुण नहीं आयेंगे । संक्षेप में, आपके भीतर में कोमलता आनी चाहिए। किसी को दुखी देखकर स्वयं को भी दुःख का अनुभव हो। दूसरों के सुख के लिए भरसक प्रयास करना चाहिए। तब आपके जीवन में अभ्यास का लाभ होगा। अर्थात खुद को स्वार्थी नहीं बनाकर अपने हित से पहले दूसरों का हित करें। किसी का

दुःख निवृति आपका धर्म बन जाये । यदि कोई भूखा व्यक्ति आ जाये तो पहले उसे खाना खिलायें ।

भगवान बुद्ध अपने साथियों को लेकर घर से निकलते हैं । रास्ते में एक पठान के घर गए। सोचा इसके घर में काफी धन है, इसकी पत्नी हमें भोजन करा देगी । बहिनें क्षमा करेंगी, स्त्रियों में हठ होता है, अहंकार भी होता है । वह स्त्री घर में बैठ कर पूजा कर रही थी । द्वार खट-खटाया । स्त्री बाहर आयी और बोली, "मैं पूजा कर रही थी । अपने उसमें खलल डाला । सुबह-सुबह मेरा दिमाग़ ख़राब कर दिया, आप यहां से चले जाओ । यहां भोजन नहीं मिलेगा, कुछ नहीं मिलेगा ।" महात्मा बुद्ध के साथियों को बुरा लगा । महात्मा बुद्ध ने कहा, चलो आगे, यहां भोजन नहीं मिलेगा वे सारे दिन भूखे रहे और उस स्त्री द्वारा अपमानित भी हुए। दूसरे दिन फिर उस स्त्री के पास गए और उसी तरह अपमानित हुए । महात्मा बुद्ध हमें हमारा धर्म प्रेम करना सिखाते हैं । दूसरे के व्यवहार पर कोई प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिए ।

" बुरा दां भला कर" - ये फ़रीद बाबा के शब्द हैं। मन में गुस्सा न लाओ। महात्मा बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को यही शिक्षा दी । उन्होंने अपने शिष्यों से कहा, "आप उस स्त्री को बुरे शब्द न कहें।" शिष्यों ने कहा, "आप यह क्या कह रहे हैं, वह हमें बुरा-भला कह रही है और हम चुप रहें । " उन्होंने कहा, " जंगल में जाकर मनन करें कि मैं जो कह रहा हूँ वह ठीक है या गलत।" यह स्थिति हम सबकी है । शिष्यों को होश आया। भूखा रहना बेहतर था। भोजन न करना बहतर था । हम अहिंसा के पथ पर चल रहे हैं। यदि हम गालियाँ देने लगेंगे तो हम अपने गुरु का अपमान करेंगे । हम अपने गुरु की शिक्षा को नहीं सुनते ।

यही बात गुरु नानक देव जी ने भी कही है। दुनियाँ दुखी है। उनका पहला उपदेश था - महापुरुषों की पवित्र वाणी को सुनो। सुनने के चार फायदे लिखे हैं। चार पद हैं। इन्हें सुनना और मनन करना चाहिए। यही शिक्षा सभी महापुरुषों ने दी है । जिज्ञासु लोग, सांसारिक लोग उनकी वाणी को समझते नहीं। मनन, निध्यासन और वैसा बन जाना - जो ऐसा करता है वह व्यक्ति महान है।

हम लोग किताबें पढ़ते हैं, परन्तु मनन नहीं करते। मनन करना अति कठिन है । मनन करके वैसा बनना और भी कठिन है । संत, महात्मा और सिद्ध पुरुष वैसा बन जाते हैं,

ईश्वर के चरणों में पहुंच जाते हैं । उनकी गति का, उनकी स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता। हम जिज्ञासु लोग, सांसारिक लोग, एक कान से सुनते हैं, दूसरे कान से निकाल देते हैं।

सत्संग में आकर विनयी बनना है। विनय हमारे व्यवहार में, हमारे विचारों में व्यक्त होना चाहिए। अन्यथा सत्संग में आये और लौट गए, कुछ हासिल नहीं किया। तो यह सत्संग का पूर्ण लाभ नहीं हुआ। आपका ध्यान इस और गंभीरता से जाना चाहिए ।

जो सत्संग में पढ़ा गया है, जो अपने सुना है, उस पर सत्संग के बाद मनन करें, उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास करें, उसे व्यावहारिक रूप दें। रामायण, गीता आदि धार्मिक पुस्तकों को पढ़कर उसमें से सद्गुणों को ग्रहण करना चाहिए। हम लोगों को सत्संग में आते हुए कितना समय हो गया। हमारी स्थिति क्या है ? इस पर विचार करें। सत्संग में जो सुना है उसपर विचार करें और फिर स्वनिरीक्षण करें। आप पायेंगे कि आपकी वही स्थिति है जो पहले थी। सत्संग में मन न लगने का कारण भी यही है ।

आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि गंभीर बनें (be serious)। थोड़ा पढ़ें, परन्तु उस पर मनन करें, निध्यासन करें और वैसा बनने का प्रयास करें।

जीवन में सत्य बोलना किसने जाना, अकेले राजा हरिश्चंद्र जी ही थे । उन्हें कितना कष्ट उठाना पड़ा। भिखारी बन गए । पत्नी को बेचना पड़ा। उनका पुत्र राहुल मर गया और उसके लिए क़फ़न भी नहीं मिला । तब भी उन्होंने अपना कर्तव्य निभाया। हम लोगों की भी परीक्षा होती है। सत्संग का यह अर्थ नहीं कि यहां आना, खाना-पीना और गप्पें मारना । यहाँ से कुछ लेकर जाना है । सत्संग में जो कुछ सुनें, उस पर मनन करें और वैसा बनने की कोशिश करें ।

प्रत्येक सत्संगी जो आदर्श का पालन नहीं करता, केवल अपने स्वार्थ के लिए ही सोचता है, वह सफल नहीं हो सकता । हमारा कार्य सेवा का कार्य है। सेवा का जो फल मिलता है उसका बड़ा लाभ होता है । हम तो अपने माता-पिता की भी सेवा नहीं करते । यह भी हमारा स्वार्थ है। हम ऊंचे-ऊंचे नारे लगाते हैं कि हमारे देश कि संस्कृति महान है। हम महान नहीं हैं, हम सब स्वार्थी हैं ।

" फतेहगढ़ के मिशन के शफ़ाख़ाने में एक मिस साहिबा डाक्टर थीं । उन्होंने अपने दिल और जान को दूसरों की भलाई के लिए सरासर वक्फ (न्योछावर) कर दिया था । तमाम दिन और रात जिस्म से और अपने दिल से जनता की ख़िदमत किया करती थीं। मुमकिन है कि निष्काम कर्म इसी का नाम है । लोग कहते हैं कि इसकी तह में उनकी कोई गरज़ शामिल थी। अगर कोई गरज़ शामिल भी हो तो उनकी गरज़ दिल में होगी। ख़िदमत तो बिला मुआवज़े के की जाती है । क्या सरकारी दवाख़ानों में नौकरी और तनख्वाह की गरज़ नहीं है ? कैफ़ियत, हम मज़हवी वग़ैरा की गरज़ नहीं है। तनख़्वाह भी मिलती है, हर मरीज़ अपनी हैसियत के मुताबिक ख़िदमत भी करता है। खुशामद भी करता है। हम एक ही मुल्क में रहने वाले भी हैं। लेकिन जो हमदर्दी के नज़ारे मुल्क के शफ़ाख़ानों में दिखलाई देते हैं, वह आपका दिल ही जानता है । "

(अमृत रस - पृष्ठ-७६)

कुछ लोग निष्काम सेवा करते हैं । गुरु महाराज फरमा रहे हैं कि फतेहगढ़ के अस्पताल में एक नर्स थीं। वे रात-दिन लोगों की सेवा करती थीं और लोगों से कुछ नहीं लेती थीं। कुछ लोग यह समझते थे कि इनको किसी चीज़ की आशा है । गुरु महाराज कहते हैं कि हमें यह नहीं देखना चाहिए कि दूसरा क्या करता है। यह देखना हमारा काम नहीं है। हम क्या करते हैं, हम अपनी करनी को देखें, अपने विचारों को देखें । दूसरा क्या करता है, इसकी प्रतिक्रिया नहीं करना चाहिए। अपने प्रति हमारा क्या कर्तव्य है ? गुरुदेव जो कहें उसे सत्य मानकर चलना चाहिए । उस पर मनन करें, निध्यासन करें और वैसा बनने की कोशिश करें। अपने व्यवहार को अच्छा बनायें। अपने धर्म के अनुसार सेवा करके कर्म करना चाहिए। सेवा निस्वार्थ हो ।

जिज्ञासु के ह्रदय में दया हो । ईर्ष्या के कारण हम दया नहीं कर पाते । हम सब ईश्वर की संतान हैं । वास्तव में हम सब एक हैं। सभी धर्म एक हैं । " त्वमेव माता, त्वमेव पिता " हे प्रभु ! तू ही हमारी माता है, तू ही पिता है। हम सब भाई-बहिन हैं । लेकिन व्यवहार

में हम एक दूसरे का शोषण करते हैं, एक दूसरे को दुःख पहुँचाते हैं। एक दूसरे को बुरा-भला कहते हैं। एक सत्संगी के लिए ऐसा करना योग्य नहीं है ।

प्रार्थना करनी चाहिए उसके बाद कुछ समय तक मौन भी रखना चाहिए । उपदेश श्रवण के बाद मनन करना चाहिए । मनन करते-करते हमें अपने जीवन को उसके अनुसार बनाना चाहिए। तभी जीवन का उद्धार होगा, सुधार होगा ।

सच्चे साधक को पहले व्यवहारिक साधना करनी चाहिए। इस पर अधिक ध्यान देना चाहिए। सत्संग में जैसा सुनते हैं वैसा बनने की कोशिश करें। ऐसा करने पर व्यक्ति के हृदय में कोमलता आजाती है ।

अब आप **महात्मा बुद्ध के पाँच मराकबे (अभ्यास) और उनके फतूहात** (अनुभव कर लेना) की तरफ़ गौर कीजिये । भगवान बुद्ध का कौल है कि जो शख्स ख़ुद बीनी में फँसा रहता है और मराकबे में मशगूल नहीं होता वह दुनियाँ के असल मंशा को भूल गया है ।

ये मराकबे उन्होंने अपने शिष्यों को तालीम फरमाए हैं । वह नीचे लिखता हूँ ।

(अमृत रस पृष्ठ ७६-७७)

(१) **पहला मराकबा** - मोहब्बत और प्रेम का ध्यान : इस ध्यान में अभ्यासी अपने दिल को इस तरह साधता है कि मैं तमाम मख़लूक़ात (जीव मात्र) की बहबूदी (भलाई) यहाँ तक कि अपने दुश्मनों की भी भलाई चाहता हूँ। इसको सर्व मैत्री कहते हैं। इसमें यह प्रार्थना की जाती है कि ईश्वर सबका भला करे ।

भगवान बुद्ध समझा रहे हैं कि सबसे प्रेम करें और सबकी भलाई करें। दूसरों की सेवा करें और उन्हें प्रसन्न रखें। दूसरों की सेवा का आनन्द, आत्मा का आनन्द, अंतर-प्रसादी वितरित करें और ऐसा करके अपने आपको भाग्यवान समझें। इन बातों को अपने जीवन में उतारें ।

हमें दूसरों के कष्ट निवारण के लिए काम करना चाहिए। जिस प्रकार हम सत्संग की सेवा करते हैं, अपने मित्र की सेवा करते हैं, उसी प्रकार से शत्रु की भी सेवा करनी चाहिए। जीव-मात्र की सेवा करनी चाहिए। यह है सर्व मैत्री भाव।

(२) **दूसरा मराकबा** - रहम का ध्यान : इसमें यह ख्याल किया जाता है कि तमाम मख़लूक़ात (जीवमात्र) मुसीबत में हैं। अपनी खयाली वाकत (इच्छाशक्ति) के जरिये से उनके रंज और ग़म की तस्बीर अपने दिल के सफ़े पर खेंची जाती है। यह इसलिए कि हमारी रुह को मख़लूक़ की हालते-ज़ात पर बहुत कुछ रहम और तरस आवे ।

गांधीजी ने देश में जाति-पाँति का रूप देखा। ऊंची जाति के लोग खुशहाल हैं, परन्तु नीची जाति के लोग दुखी हैं जिनमें हरिजन, चर्मकार आदि हैं । गांधीजी रोज़ सत्संग किया करते थे। वहाँ पास में झोपड़ियां थीं । गांधीजी के प्रवचन होते थे कि उनके साथ बैठकर सत्संग करें, खाना खाएं, उनका सम्मान करें। वह प्रत्येक दिन भाषण दिया करते थे । उनके साथ कुछ नेता भी बैठते थे जो कांग्रेस के लिए काम भी करते थे । परन्तु गरीबों की दशा देखने वाले लोग, महात्मा गांधीजी की इन बातों को, उनके प्रवचनों को गंभीरता से सुनने वाले लोग कम थे ।

(३**) तीसरा मराकबा** - ख़ुशी का ध्यान : इसमें हम दूसरों की भलाई का ध्यान करते हैं और उनकी ख़ुशी में ख़ुशी मनाते हैं ।

साधारणतः हम दूसरों को खुश देखकर उनसे ईर्ष्या करते हैं, दिखावटी ख़ुशी व्यक्त करते हैं । हमारे भीतर में ईर्ष्या होती है । भाई-भाई में ईर्ष्या, बाप-बेटे में ईर्ष्या, हर जगह ईर्ष्या ही ईर्ष्या। बहुत ही कम लोग हैं जो सत्संग समझते हैं। परमात्मा की कृपा से सब कुछ है उनके पास, पर शांति नहीं है, संतोष नहीं है । वे आशा करते हैं कि दुनिया भर का धन उनके पास आ जाये। यह हम सबका हाल है जो गलत बात है। आत्मा व्यक्ति के हृदय में है। सबकी आत्मा एक जैसी है । आत्मिक एकता को अपनाना चाहिए। शरीर की चमड़ी को मत देखो, मन की भावनाओं को मत देखो।

" सब में रमि रहो प्रभू एको, पेखि पेखि नानक विगसाई "

वह परमात्मा सबमें है, उसके दर्शन सब में करो। मन में से ये बातें जाती रहेंगी कि यह हिन्दू है, यह मुस्लिम है, यह सिख है । बसुधैव कुटुम्बकम का भाव आ जायेगा । महात्मा गाँधी जी ने अफ्रीका में यही किया और वहाँ से लौटने पर भी यही साधन किया और दूसरे लोगों को भी ऐसा करने की प्रेरणा दी। अपने पैसों की, अपनी बुद्धि की, अपने गुणों की प्रशंसा मत करो।

सत्संग में आकर हम महापुरुषों के प्रवचन सुनते हैं । यदि हम उनकी बातों पर मनन नहीं करेंगे, उन्हें नहीं समझेंगे तो निध्यासन क्या करेंगे ? हम वैसे कैसे बन पाएंगे ? नित्य साधन, श्रवण, मनन और निध्यासन करना और वैसा बनने का प्रयास करना - ये चार चीज़ें प्रत्येक व्यक्ति को रोज़ करनी चाहिए।

गांधीजी ने सरल भाषा में, छोटी सी पुस्तक गीता पर लिखी। और भी कई लोगों ने गीता पर पुस्तक लिखी हैं परन्तु गांधीजी के मुक़ाबले में कोई ठहर नहीं सकता। गीता के बारहवे अध्याय में बीस श्लोक हैं । पहले बारह श्लोकजिज्ञासु दार्शनिक तौर पर लिखे गए हैं और शेष ८ श्लोकों में गुण बताये गए हैं। ये गुण सच्चे जिज्ञासु में होने चाहिए। गांधीजी की इतनी सरल भाषा में लिखी पुस्तक जब मैं पढ़ता हूँ तो मेरी समझ में नहीं आती। आठ श्लोकों में जो गुण बताये गए हैं वे आजतक मेरे जीवन में नहीं उतरे। मैं उन्हें पढ़ने, समझने की कोशिश करता हूँ परन्तु उन्हें अपने जीवन में उतारना अति कठिन है। हो सकता है कि आपमें से कुछ लोग ऐसे हों जिनमें वे गुण हों।

हम लोगों में गंभीरता नहीं है। सही तरीके से भजन करने का अभ्यास नहीं है। जल्दी-जल्दी में पाठ किया, ईश्वर को याद किया और बस पूजा-पाठ कर लिया। पूजा-पाठ बेशक थोड़ी देर करें पर मनन अवश्य करें। पढ़ो, सुनो और मनन करो। मनन पर ज़्यादा ध्यान दें। श्रवण, पठन के साथ-साथ उस पर मनन करने के लिए सौ गुना अधिक समय होना चाहिए। वैसा बन जाने के लिए चाहे पूरी ज़िंदगी लग जाये परन्तु प्रयास नहीं छोड़ें।

सच्चाई यह है कि आठ श्लोकों में जो गुण बताये गए हैं, मैं अपनी बात कह रहा हूँ, मेरे मैं एक भी गुण की पूर्णता अभी तक नहीं आयी है बारहवाँ अध्याय गांधीजी को भी अच्छा

लगता था। वे प्रेरणा दिया करते थे कि यह रोज़ पढ़ना चाहिए। गांधीजी के आश्रम में जो लोग रहते थे उनके लिए इस अध्याय को पढ़ना अनिवार्य था।

आप उन आठ श्लोकों को पढ़ लें, उन पर मनन करें, निध्यासन करें, उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास करें और वैसा बन जाएँ तो आप ईश्वर रूप हो जायेंगे। बीस-पच्चीस गुण हैं, ज़्यादा नहीं हैं। उन आठ श्लोकों में सत्य बोलना, पूजा करना, सहानुभूति रखना, सेवा करना, दूसरों के दुःख बाँटना आदि-आदि ऐसे गुण हैं जो पढ़ने में तो बड़े सरल लगते हैं परन्तु उन्हें जीवन में उतारने में कठिनाई आती है। आप यदि उन श्लोकों के अनुकूल अपना जीवन बना लेंगे तो आप अनुभव करेंगे कि आप धरती पर नहीं बैठे हैं, आप स्वर्गलोक में बैठे हैं। आपको वह आनन्द मिलेगा जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पर हमारा मन ऐसा नहीं करने देता । हमारे मन की अतीत की करना हमारा स्वाभाव बन गया है जो जल्दी नहीं बदलता।

सच्ची साधना यही है कि ईश्वर के गुणों को अपनाना और वैसा बन जाना। आप ईश्वर रूप बन जायेंगे। इसमें जो आनन्द मिलता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

" आनन्द भया मेरी माँय, सतगुरु मैं पायो "

सत को जानते है तो आत्मिक आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। हम रोज़ पढ़ते हैं परन्तु उनके अर्थ की और ध्यान नहीं देते, नहीं तो इतने वर्ष हो गए, हमारे जीवन में परिवर्तन क्यों नहीं आया ? मनन करें, समझें और उन्हें अपने जीवन में उतारने की कोशिश करें। केवल पढ़ने से यह चीज़ लागू नहीं होती। हमें वैसा बनना है। यही आत्मा का सच्चा आनन्द है जो वर्णनातीत है। वह आनन्द तभी मिलेगा जब हम आत्मा के गुणों को अपनाएंगे। आत्मा के गुण और परमात्मा के गुण एक ही हैं।

(४) **चौथा मराकबा** - कसाफ़त या नापाकी (अपवित्रता) का ध्यान - इसमें हम बुराई के बुरे नतीजे और गुनाह (पाप) और बीमारियाँ के अंजामों पर गौर करते हैं। अक्सर ख़ुशी आरज़ी (थोड़ी देर की) होती हैं और उसके नतीज़े कैसे खतरनाक होते हैं।

हमारे जीवन में कई ऐसी बुराईयां, कई ऐसी बातें आती हैं जैसे झूंठ बोलना, रिश्वत देना, रिश्वत खाना और मनुष्यों का शोषण करना आदि। साधारण मनुष्य जानता है कि वह

क्या कर रहा है। वह यह भी जानता है कि इसमें बुराई क्या है। पर फिर भी जाने-अनजाने में उससे बुराई हो जाती हैं।

भगवान राम की रावण से लड़ाई हुई। भगवान राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण को लेकर गए, रावण के चरणों में खड़े हुए, लक्ष्मण से कहा इनसे क्षमा मांगों। लक्ष्मण बोले क्यों ? वह हमारा शत्रु है। भगवान राम ने लक्ष्मण के माध्यम से सारे संसार को उपदेश दिया। वह जानते थे कि रावण उच्च कोटि का ब्राह्मण है। साक्षात् भगवान राम ने रावण से ज्ञान की भिक्षा मांगी। परन्तु हम ऐसा नहीं कर सकते।

हमारा साहित्य हमें प्रेरणा देता है कि हम उसमें वर्णित दर्शन को, उच्च व्यवहार को प्राप्त करें, अपने मन को जाग्रत करें। पर हम ऐसा नहीं कर पाते। मनुष्य का स्वभाव है कि वह उच्च विचारों को ग्रहण नहीं करता। जब तक मनुष्य की वृत्ति अंतर्मुखी नहीं बनेगी, आत्ममय नहीं बनेगी। तब तक व्यक्ति को वास्तविक सुख नहीं मिलेगा, उसको मुक्ति नहीं होगी। भगवान राम से प्रेरणा लेनी चाहिए। रावण ने कितने भी बुरे व्यवहार किये, भगवान राम ने बुरा नहीं माना। भगवान कहते हैं " श्रेष्ठ रावण इससे (लक्ष्मण से) गलती हो गयी है, इसे क्षमा करदें। इसे दण्ड नहीं दें।"

(५) **पाँचवा मराकवा** - अमल, आसूदगी यानी शांति का ध्यान : इसमें हम मौहब्बत और नफ़रत, जुल्म और जब्र, दौलत और कंगाली, किसी चीज़ की परवाह नहीं करते ओर अपनी हालत पर हर तरह से शाकिर (कृतज्ञ) होकर हर हालत में ईश्वर का शुक्रिया अदा करते हैं।

शान्ति, शान्ति सारे संसार में शान्ति बनी रहनी चाहिए। हममें अहंकार नहीं आना चाहिए। अहंकार से शान्ति ख़त्म हो जाती है। मन में आत्म-स्थिति लानी चाहिए। दुःख, सुख कुछ भी नहीं रहे।

" दुःख सुख दोनों समकर जानो "

मन में समता लायें। खुश रहना चाहिए, दुःख में भी खुश। जीवन को एक खेल बनाना चाहिए। इसे क्रीड़ा बनाना चाहिए। एक खिलाडी की तरह, हम विजय प्राप्त करें या हारें - दोनों स्थितियों में खुश रहें। यही जीवन की प्रेरणा है।

" दुःख सुख दोनों समकर जानो, यह गुर ज्ञान बताई

कहु नानक बिन आपा चीन्हे, मिटे न भरम की काई "

अहंकार को दूर करें, दीनता अपनायें। ईश्वर प्राप्ति के लिए,दीनता ही सच्ची साधना है। जीवन को क्रीड़ा बनायें। दुःख में विचलित न हों, सुख में सम रहें। गुरु के चरणों में हमारा ध्यान रहे। हम भीतर में आत्ममय रहें। उनकी प्रेरणा को भूलें नहीं।

जीवन एक क्रीड़ा है, अच्छी तरह खेलें । सफलता मिले तो अहंकार न हो, असफलता मिले तो विचलित न हों - कोई चिंता नहीं। अपने भीतर में सुख-दुःख, विजय -पराजय, मान-अपमान सबको एक सा मानें । शत्रु को भी अपना जैसा मानें। पाप की कमाई से बचें। जीवन की कला है कि पवित्रता में कमी नहीं आनी चाहिए। सच्चा आनंद पायें।

तम, रज और सत में हर आदमी फंसा है। हमारा अपना धर्म है उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने का भरसक प्रयास करें। सबका भला करें।

आपके चरणों में निवेदन है कि इन बातों पर मनन करें। आपके जीवन में विशेष प्रगति आ जाये। आपके चारों ओर तथा भीतर में शान्ति ही शान्ति हो। आपको सुख ही सुख मिले।

प्रभु आप पर कृपा करें।

राम सन्देश : जनवरी-फरवरी २००७

दीनता

(परमसन्त डॉ। करतारसिंह जी महाराज)

दीन सबन को लखत है , दीनहि लखे न कोय ।

भली बिचारी दीनता, नरहु देवता होय।

कबीर नवै सो आपको, परकों नवै न कोय

थोरि तराज़ू तौलिये, नवै सो भारी होय।

संतमत में दीनता का प्रमुख स्थान है। हम गुरुजनो के कृपा पात्र तभी हो सकते हैं जब हम दीन बनकर उनके श्री चरणों में जाते हैं। परमात्मा संत शिरोमणि डॉ। श्रीकृष्ण लाल साहब दीनता की साक्षात मूर्ति थे। उनके पावन शब्दों में - " संत सदा उसके (परमात्मा के) दरबार में हज़ूरी के साथ हाज़िर रहते हैं इसलिए वह सदा संतों में मूर्तिमान रहता है। संतों के चरणों में बैठने से दीनता और दीनबंधु दोनों मिलते हैं। "

दीनता एक अद्भुत भाव है, जो शब्दों में व्यक्त करना असंभव है। दीनता के मायने यह नहीं कि हम धन-सम्पत्ति से हीन हो जाएँ। सच्चे अर्थों में इसका मतलब है कि हम अपनी ख़ुदी या अहम भाव को मिटाकर अपने आपको गुरु में लय करदें। यदि हम अपने आपको दीन समझ लें तो अपना अनादर या बेइज़्ज़ती हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। इसे थोड़े में इस प्रकार समझ सकते हैं कि जब माता-पिता बच्चे को डाँटते हैं तो क्या इसमें बच्चे की बेइज़्ज़ती या निरादर है। नहीं कदापि नहीं, क्योकि बच्चा माता-पिता का प्रिय है, उनके प्रति आश्रित है। आश्रित होना दीनता है। यदि हम दीन होना चाहते हैं तो अपने आपको सेवक समझें और सच्चे दिल से सेवा करें। कहने को तो यह सब बहुत आसान है लेकिन ऐसा होना बहुत कठिन है। यह सब साधन और अभ्यास से ही सम्भव है।

यह बिलकुल सही है कि संतों के चरणों में बैठने से दीनता मिलती है लेकिन जब तक हम खुद को दीन बनाकर नहीं जायेंगे तब तक वह चीज़ नहीं मिल सकती है जो मिलनी चाहिए। पहले निज कृपा फिर गुरु कृपा। पूर्ण दीनता आ जाने पर सारे सद्‌गुण खुद व्‌ खुद आने लगते हैं। विनम्रता दीनता का ही अंग है। समर्पण का भाव दीनता में छुपा हुआ है। जहाँ पूर्ण समर्पणता आयी फिर विलय और तब आत्म साक्षात्कार में देर कहां ? दूसरी बात दीनता आ जाने पर क्रोध स्वतः चला जाता है। क्रोध आध्यात्म के मार्ग में एक बहुत बड़ी रुकावट पैदा करता है और यदि हमारे अन्तर में क्रोध है तो फिर दीनता कैसी ? हम सेवक कहलाने लायक कहां रहे ?

जहां दीनता है वहाँ क्षमा करने का भाव भी साथ है। जिन महापुरुषों के अंतर में दीनता भरी है, वे कभी किसी के ऊपर क्रोध नहीं करेंगे। उनके अंतर में क्षमा का भाव रहता है। संतों का ह्रदय बड़ा ही कोमल होता है। वे दूसरों के दुःख को देख कर पिघल उठते हैं और द्रवित हो पड़ते हैं। संतों को जब कोई कष्ट पहुंचाता है तो वे विनम्रतापूर्वक उनके लिए यही प्रार्थना करते हैं - " हे प्रभु ! ये भूले हुए हैं। यह नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं। दयामय प्रभु इन्हें क्षमा कर दो। इन्हें किसी भी सुख से वंचित मत करना। इन्होने तो मेरी मंज़िल को आसान कर दिया है।" यह है उनकी महिमा। दक्षिण भारत के महान संत एकनाथ जी प्रतिदिन गोदावरी स्नान को जाया करते थे। रास्ते में एक सराय पड़ती थी जिसमें एक पठान रहता था । एकनाथ जी स्नान करते और फिर जब वापस आते तो वह पठान उन पर कुल्ला कर देता। कभी-कभी यह काण्ड चार -पांच बार भी होता। पठान ज़िद पर आगया। ऐसे बार-बार कुल्ला करता रहा और वह महापुरुष हर बार स्नान करके लौट जाते। अंत में पठान अपने कार्य पर शर्मिंदा हुआ। बोला " आप मुझे क्षमा कर दें। तोबा करता हूँ। अब किसी को तंग नहीं करूंगा। आप खुदा के सच्चे बंदे हैं माफ़ कर दें मुझे।" लेकिन एकनाथ जी की विनम्रता, दीनता और क्षमा का यह हाल कि वे पठान को सांत्वना दे रहे हैं - इसमें क्षमा की क्या बात है? आपकी कृपा से मुझे आज एक सौ आठ (१०८) बार स्नान करने का सुअवसर मिला।

दीनता में त्याग की भावना दृष्टिगोचर होती है। दीनता में मैं और मेरापन नहीं होता। जो कुछ मेरे पास है, वो सब तेरा। ये भोग-विलास के जो सामान मेरे पास हैं वो सब तेरे, यह शरीर तेरा, यह मन तेरा, जो कुछ है सब तेरा, तेरा, तेरा। त्याग के मायने केवल वाह्य चीज़ों

के ही छोड़ देने से नहीं हैं जैसे कि लोग अक्सर कहते हैं कि साहब, मैने सिगरेट पीना छोड़ दिया या मैं चाय नहीं पिऊंगा आदि आदि। सच्चे अर्थों में हमारे अंतर में जो कलुषित भावनाएं रागद्वेष, मोह, क्रोध, कामना आदि की भरी पड़ी हैं, उनका त्याग करना है। इसके अतिरिक्त सांसारिक वस्तुओं में भी आसक्ति न हो।

जितने भी महान संत हुए हैं उन सबने दीनता रुपी आभूषण धारण किया है। जो दीन होगा, वह सहनशील अवश्य होगा। उसे इस बात से कोई मतलब नहीं होगा कि लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं । सही बात तो यह है कि जिसमें दीनता पूर्णरूप से आगयी, उसने अपना दीन (परलोक) बना लिया। उसने दीनबंधु को प्राप्त कर लिया।

सिक्खों के तीसरे गुरुदेव श्री अमरदेव जी दीनता की मूर्ति थे । वे अपने गुरु महाराज श्री अंगददेव जी के समधी थे और रिश्ते में भी बड़े थे, लेकिन दीनता का यह हाल था कि जाते वक्त अपनी पीठ गुरु की तरफ नहीं होने देते थे। वे इसे बेअदबी समझते थे। श्री अमरदास जी बूढ़े थे लेकिन दीनता की वज़ह से बड़े शौक से श्री अंगदेव जी की सेवा करते थे। एक दिन सुबह होने में कुछ देर थी। श्री अमरदेव जी बरसते पानी में ही नदी पर गए। जब गुरूद्वारे के पास पहुंचे, वे गिर पड़े लेकिन उन्होंने घड़े के पानी को नहीं गिरने दिया। धमाके की आवाज़ हुई। पास ही एक जुलाहे का घर था। वह बोला कि कोई शख्स गिरा है या कोई कुत्ता कूदा है। उसकी पत्नी बोली। " इस अँधेरी रात में अमरू बेचारे के सिवाय कौन उठा होगा। वही दुखिया गरीब पानी लेने जाता है, वही गिरा होगा।" ये बातें किसी तरह गुरु अंगददेव जी ने सुन लीं।

अमरदास जी घड़ा लेकर पहुंचे। गुरु को स्नान कराया। सुबह हुई, दरबार लगा, गुरु जी ने हुक्म दिया - 'जुलहिन को लाओ'। वह डरती हुई आयी। गुरूजी ने पूछा - माई, आज सुबह तूने क्या कहा था? वह बोली, " भगवान ! मैने तो कुछ नहीं कहा। धमाके की आवाज़ हुई जैसे कोई गिरा हो। मेरे पतिदेव के पूछने पर मैने कहा कि ऐसे अँधेरे में अमरू बिचारे के सिवाय और कौन हो सकता है। वही गरीब पानी लेने गया होगा ।" यह कहकर वह चली गयी। गुरुदेव का हुक्म हुआ कि अमरदास जी को हाज़िर करो। वे दूसरी जगह भजन गा रहे थे।, आये, गुरु साहब उठे और अपने दरबारियों से बोले -" यह अमरू बेचारा या गरीब दुखिया नहीं है, राजाओं

का राजा गुरु अमरदास है"। यह कहकर उन्होंने अमरदास जी को अपनी छाती से लगा लिया और अपनी गद्दी पर बैठाकर उसे निहाल कर दिया।

लेने को सतनाम है, देने को अन्नदान

तरने को है दीनता, डूबन को अभिमान

गुरु रामदास जी - " जिसने अपने अहम और ख़ुदी को मिटा दिया हो तो फिर गुरुदेव की कोई भी सेवा क्यों न हो, उसमें किसी प्रकार की हीन भावना आने का प्रश्न ही नहीं है।" रामदासजी के बृद्ध गुरुदेव ने परीक्षा के तौर पर एक रोज़ अपने सारे शिष्यों को अलग-अलग चबूतरा बनाने को दिया। सबने बनाया, गुरुदेव ने सबका चबूतरा तुड़वा दिया और फिर बनाने का आदेश दिया। कई बार चबूतरे बने और बिगड़े। लोग उकता गए और कहने लगे ' गुरुदेव चबूतरा बनवाते हैं और फिर तुड़वा देते हैं। यह सोचकर उनकी आज्ञा नहीं मानी। परन्तु रामदास जी बार-बार आदेशों का पालन करते रहे क्योकि रामदास जी के अंतर में दीनता कूट-कूट कर भरी थी। वे सेवक थे और सेवक को सिर्फ सेवा करने से मतलब है। उसे इस बात से कोई वास्ता नहीं कि मालिक मुझसे क्या करवा रहा है या लोग मेरे बारे में क्या सोचेंगे ? आखिर में गुरुदेव ने पूछा " क्यों रामदास ? और सब तो भाग गए। तुम क्यों चबूतरा बनाते बिगड़ते हो ? क्या तुमको तक़लीफ़ नहीं होती।" रामदास जी नम्रता पूर्वक बोले - " भगवन, मैं तो सेवक हूँ, मेरा काम तो सेवा करना है। चबूतरा बने या बिगड़े, मुझे इससे क्या मतलब ? मुझे तो आज्ञा-पालन करने से काम है। अगर मेरी तमाम ज़िंदगी भी इस काम में निकल जाये तो भी मैं नहीं घबराऊँगा। " गुरुदेव प्रेम से गदगद हो गए, आपको सीने से लगा लिए और अपना उत्तराधिकारी बनाया।

कबीर नन्हे हो रहो, जैसो नन्ही दूब,

सभी घास जल जायेंगे, दूब खूब की खूब।

जब दीनता का समावेश होता है तभी हमें अपने अवगुण दीख पड़ते हैं। दूसरे में जो अवगुण हमें दिखाई पड़ते हैं , वे अवगुण हमारे अंतर में पहले से मौजूद थे, लेकिन इसकी साधक को खबर तक नहीं होती।

औरों पै मुअतरज थे लेकिन नज़र जो डाली

अपने ही दिल को हमने गंजे अयूब देखा

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय

जो घट ढूँढा आपना, मुझसे बुरा ना कोय

जब अंतर में बुराइयाँ दीखती हैं, उनसे हम घृणा करते हैं और दीनतापूर्वक अपने गुरुदेव के श्री चरणों में गिड़गिड़ाते हैं, रोते हैं, तो उन बुराइयों से छुटकारा मिल जाता है। यही वास्तविक स्वाध्याय है।

दीन पुरुष ही संतों की पवित्र दृष्टि में सबसे अधिक अधिकारी होते हैं। ऐसे ही शिष्यों के लिए गुरुजनों का यह हाल होता है :

दास दुखी तो मैं दुखी, आदि अंत तिहु काल

पलक एक में प्रकट हो, छिन में करूँ निहाल

हमें दीन भाव केवल मानव जाति विशेष के साथ ही नहीं बल्कि परमात्मा की तमाम सृष्टि के साथ बरतना है। फिर यह भी आवश्यक है कि हम व्यसनी न बनें। मांस, मदिरा आदि तामसिक वस्तुओं का सेवन भूलकर भी न करें। इनसे ह्रदय कठोर होता है। अतः दीनता लाने के लिए यह ज़रूरी है कि हम हमेशा हज़ूरी में रहें यानी यह सोचते रहें कि श्री गुरुदेव हमारे अंतर में विराजमान हैं, हमारे साथ हैं, हमारे हर कार्य को देख रहे हैं। ऐसा सोचते रहने से हम बुरे कर्मों से बच सकते हैं।

पूज्य श्री लालाजी साहब (समर्थ) गुरु महात्मा रामचंद्र जी महाराज, फतेहगढ़ी अपने काल के सुविख्यात परमसन्त थे। सूफियों की भाषा में वे पीर कामिल थे। उन्होंने परमेश्वर के श्री चरणों में विनम्रतापूर्वक एक जगह क्या खूब लिखा है :

" हे परमपिता परमेश्वर ! यह सेवक जैसा है तैसा आपकी शरण में मौजूद है। इसको

खबर नहीं कि आपके गुण कैसे गाये जावें ? कभी-कभी बाख़बरी पर नाज़ हो जाता

है लेकिन जब काम का वक्त आता है तब धरे का धरा रह जाता है। अब तक छान बीन

करने का यह नतीज़ा निकला और यह जान पाया कि कुछ नहीं जाना। "

ज़ाहिर है कि आध्यात्मिक मार्ग को सुगम बनाने के लिए दीनता की परम आवश्यकता है। पूर्ण दीनता के आते ही विनम्रता, क्षमाशीलता, राग-द्वेष से मुक्ति, क्रोध और अहंकार का नाश, पूर्ण आत्मसमर्पण आदि अद्वितीय गुण साधक के अंतर में स्वतः ही झलकने लगते हैं। इस पारलौकिक गुण को पाना निहायत ही मुश्किल है। परन्तु गुरु के चरणों का, संतों के चरणों का आसरा, सहारा लेने से दीनता सुगमता से मिल जाती है।

राम सन्देश : मार्च-अप्रेल, २०१२।

नाभि में छिपी कस्तूरी से अनजान मृग के समान भटको मत

परमात्मा ने मनुष्य को अपने जैसा बनाया है। फ़ारसी में इसको कहते हैं ' अर्शख उल मुरक्का ' यानी सब से अर्शख (सब से बढ़िया)। परमात्मा ने संसार पैदा किया परन्तु मनुष्य को अर्शख (सर्वोत्तम) रखा है। उसे अपने जैसा ही बनाया है। प्रभु तो सत, चित,आनन्द स्वरुप हैं। उन्होंने मनुष्य को भी अपने जैसा - सत, चित, आनन्द स्वरुप बनाया है। वास्तव में यही मनुष्य का वास्तविक रूप है। परन्तु आज प्रत्येक मनुष्य पागल जैसा हो रहा है। कोई ऐसा मनुष्य नहीं मिलेगा जो भगवान शिव की तरह शान्त हो, भगवान विष्णु की तरह शान्त हो - जो नाग शैया पर विराजमान हैं, परन्तु शांत हैं। यह है प्रभु का स्वरुप। और हमारी स्थिति यह है कि हम भीतर से जल रहे हैं। बहुत कम लोग हैं जो भीतर में शांत हैं। अधिकांश मानव व्याकुल हैं, पागल हो रहे हैं।

भगवान ने जीव तो और भी उत्पन्न किये हैं परन्तु मनुष्य को सबसे अधिक बुद्धि दी है। किन्तु फिर भी मनुष्य उतना ही अधिक विचलित हो रहा है, पागल हो रहा है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य को पता नहीं है कि उसका कर्तव्य क्या है, किस प्रकार से वह अपने निज-स्वरुप में, सत,चित,आनंद स्वरुप में, रह सकता है। परमात्मा ने तो प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धि दी है, वह ऐसा कर सकता है परन्तु कर नहीं पाता। परमात्मा सब के भीतर में हिरण की नाभि में कस्तूरी की भाँति है परन्तु मनुष्य उसको पहिचान नहीं पाता। आपको कहीं दूर नहीं जाना है, वह तो आपके पास ही है, चौबीस घंटे हमारे पास ही रहता है। किन्तु परमात्मा की विचित्र लीला है कि वह आत्मा के रूप में निरन्तर हमारे भीतर में बैठा हुआ है पर हम उसकी अनुभूति नहीं कर पाते।

वे लोग भाग्यशाली हैं जिन के मन में यह समझने की भावना उत्पन्न होती है। जिनके ह्रदय में विरह के विचार उठते हैं, अज्ञान को दूर करके ज्ञान की तरफ बढ़ने का सहस

होता है, वे भाग्यशाली हैं। परन्तु सब समस्याओं में उलझे हुए हैं। रोज़ ही पत्र आते हैं। भाई लोग बाहर से भी आते रहते हैं, यहां के लोग भी हैं। मुख्य तौर पर सबका एक ही कहना होता है कि ' कब तक इस कींचड़ में फंसे रहेंगे हम ? हम प्रयास भी करते हैं परन्तु इस कींचड़ से निकल नहीं पा रहे हैं।' यह प्रायः सभी की समस्या है - मैं हूँ, आप हों, या अन्य कोई पुरुष हो। यह समस्या आज की ही नहीं है, आदिकाल से है।

जिन साधकों के भीतर में यह उत्कंठा लग गयी है, समझ लो कि वे परमार्थ के रास्ते के लिए अधिकारी बन रहे हैं। नहीं तो लोग बाग सुबह उठे, खाया-पिया, काम किया, रात को टी।वी। देखा-सुना और सो गए। यही सबकी दिनचर्या बन चुकी है। ऐसे लोग कींचड़ से कैसे निकल सकते हैं? जिन के मन में यह चाहत आ गयी है कि। ' प्रभु, मोय कब गले लगाओगे' - वे भाग्यवान हैं। परन्तु यह भाव केवल पढ़ें सुनें ही नहीं, इसके लिए कुछ करें भी। ये शब्द स्वाभाविक और सहज रूप में हमारे ह्रदय से निकलें तो ठीक है।

महापुरुषों की वाणी बड़ी पवित्र वाणी होती है, उसके पढ़ने से भी प्रेरणा मिलती है। फ़रीद साहब फ़रमाते हैं कि," जिसके ह्रदय में विरह उत्पन्न नहीं होता उसकी गरदन काट देना चाहिए।" यह बहुत हद तक सही है, ग़लत नहीं है। हमारे मन में विरह उत्पन्न होता ही नहीं। फ़रीद जी का यह वचन या अन्य महापुरुषों के प्रवचन पढ़ लिए या कोई भजन या पवित्र वाणी पढ़ ली, इससे काम नहीं चलेगा। प्रत्येक मनुष्य के सामने एक चुनौती है कि तुम्हारी मृत्यु किसी भी समय हो सकती है। हमें मृत्यु से पहले अपने आपको निर्मल करना है, असली गंगा स्नान करना है - अर्थात आत्मा का साक्षात्कार करना है। जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, ईश्वर के दर्शन नहीं होते, तब तक हमारे मन की वृत्तियाँ (tendencies) भी खत्म नहीं हो सकतीं। हाँ, धीरे-धीरे कम हो सकती हैं।

परन्तु व्यक्ति चाहता है कि आज ही उसके संस्कार या वृत्तियाँ सब ख़तम हो जाएँ। पर ऐसा हो नहीं पाता और वह निराश हो जाता है - कहता है- "हमें सत्संग में जाते-जाते पच्चीस-तीस साल हो गए पर उन्नति के आसार नज़र नहीं आते। " ठीक है, सत्संग का भी दोष हो सकता है, जो सत्संग कराता है उसका भी दोष हो सकता है। परन्तु हम स्वयं भी तो ज़िम्मेदार हैं। " मैं कौन हूँ, मेरा मन, मेरा अतीत क्या है ?" इसे अच्छी तरह समझिये। यह

अतीत एक दिन का नहीं है। जन्म-जन्मांतरों के संस्कार हमारे चित्त पर अंकित होते रहे हैं और उन अंकित संस्कारों के परिणामस्वरूप हमारी वृत्तियाँ, स्वभाव, व्यवहार, इच्छाएं राग-द्वेष आदि पैदा होते हैं। इसलिए एक दिन में चित्त का निर्मल हो जाना असम्भव है। तब भी हमको अपनी विवेक बुद्धि से, जो परमात्मा ने हमें दी है, प्रयास जारी रखना चाहिए। कब शिखर पर पहुँचेंगे, इसकी चिन्ता न करें - चढ़ना तो जारी रखें। गुरु महाराज का कहना था कि इस रास्ते पर चले चलो, थकान नहीं आनी चाहिए। मंज़िल कब हासिल होगी - एक जन्म में, दो जन्म में या दस जन्म में - इसकी चिन्ता मत करो। चले चलो और संजीदगी (गंभीरता) के साथ चलो। लगन के साथ, होश सम्हाले हुए, संत समान महापुरुषों की सोहबत करो और चलते चलो। एक कवि के शब्दों में -

" मंज़िल मिले मिले, न मिले, इसका डर नहीं

मंज़िल की जुस्तजू में, मेरा कारवां तो है ।"

संसार के प्रति जितनी जल्दी थकावट आ जाये अर्थात वास्तविक रूप से मन में विवेक और वैराग्य उत्पन्न हो जाये, उतना ही अच्छा है क्योकि बिना वैराग्य और सतत अभ्यास के वह सूरज दिखाई नहीं देगा यानी आत्मिक ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। वह हमारे भीतर में है परन्तु विकसित नहीं हो रहा है। अर्जुन भगवान कृष्ण से यही प्रश्न तो करता है कि, " हे प्रभु ! मेरा मन मेरे क़ाबू में नहीं है, इसे कैसे वश में किया जाये?" यह प्रश्न केवल एक ही व्यक्ति या साधक का नहीं है। अर्जुन ने सारे विश्व का प्रतीक होकर भगवान से पूँछा था कि -"मेरा मन मेरे क़ाबू में नहीं आता, मैं क्या करूँ ।" गीता के दूसरे अध्याय में भगवान बता चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ दशा में कैसे रहना चाहिए। वह क्या अवस्था है, उसके लिए क्या कुछ करना है? यह उपदेश अर्जुन सुन चुका था। तब भी यह उपदेश उसके भीतर में बसा नहीं है। वह आगे चलकर पूछता है कि - भगवान, मैं करूँ क्या ? मैं अपने अतीत से मुक्त नहीं हो पा रहा हूँ। मेरे भीतर में राग-द्वेष तथा अन्य कमज़ोरियाँ हैं, मेरी इन्द्रियाँ भी कामनाओं में फंसी हुई हैं। मन इन्द्रियों का साथ देता है तथा बुद्धि की आवाज़ नहीं सुनता। यह सब बातें मुझसे नहीं हो पा रहीं हैं।"

अर्जुन सारा उपदेश तो सुन चुका है और उस समय उसे कुछ संतुष्टि भी हो चुकी है। जब भगवान ने ललकारा है और कहा है कि वह अपना कर्तव्य-कर्म करे, फिर भी वह यही बात करता है। अभी यह बातें उसके ह्रदय में जमी नहीं हैं। जमती कैसे ? उस प्रकार का आचरण करके उसका स्वाभाव बने तभी तो जमें। बुद्धि के स्तर तक बात समझ में आ जाये, तो भी शुक्र है। परन्तु वह हमारे व्यवहार में भी आ जाये ऐसा हमसे नहीं होता। कितने दिन हो गए हमको पूजा-पाठ करते हुए, साधना करते हुए ? एक अक्षर भी तो नहीं बसा हमारे जीवन में, हमारे व्यवहार में।

इसी दशा को व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान से पूछ रहा है - क्या करूँ ? भगवान कितनी सरलता से कहते हैं, जैसे माता-पिता अपने बच्चे को समझाते हैं, उन्होंने उसे डांटा नहीं है। बड़ी ही वात्सलयमयी सरलता से भगवान अर्जुन को फिर समझाते हैं। महापुरुष डांटते नहीं हैं, वे संसारी लोगों को जानते हैं। वह भी इन बातों से, इन कमज़ोरियों से गुज़र चुके होते हैं। इसलिए वह हम पर नाराज़ नहीं होते, बड़े प्रेम से समझाते रहते हैं। भगवान भी उतनी ही सरलता से अर्जुन को कहते हैं - " प्रिय पार्थ, वायु तो मुट्ठी में आ सकती है परन्तु यह मन वश में नहीं आ सकता। मन ऐसी वस्तु नहीं ही जो जल्दी से वश में आ जाये। मन तो सारे अतीत का प्रतीक है, सारी इच्छाओं का भण्डार है। सारे राग-द्वेषों का, दोष-अवगुणों तथा चंचलता का प्रतीक है। जितनी बुरी या अच्छी आदतें हैं वे सब मिलाकर एक ' मन' शब्द में आ जाती हैं।तामसिक, राजसिक और सात्विक इन तीनों प्रकार के गुणों की मिलौनी माया कहलाती है। उसको चलाने वाला, उसका संवाहक, मन है। यह मन ही इन तीनो गुणों को विकसित या पोषित करता रहता है। इसी से मनुष्य तंग आ जाता है, पागल सा हो जाता है। अतएव, सबसे पहले कर्तव्य-कर्म करके इस मायावी मन को साधना अति आवश्यक है।

आप देखते हैं कि यदि अधिक विचार आवें तो रात को नींद नहीं आती और दिन में तो अनगिनत विचार आते ही रहते हैं। पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि सड़क पर खड़े होकर देखो, प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ बोल रहा है। उसके होंठ हिल रहे हैं। सब पागलों की तरह चले जा रहे हैं । यह सब मन ही की मनमानी चाल है। ऐसे मन को यदि चाहो कि तुम एक बार में ही काबू में कर लो, यह तो असंभव है। यह समस्या कोई नई नहीं है। यह आदि काल से है। जिन युगों की हम बहुत चर्चा करते हैं - सतयुग, द्वापर, त्रेता आदि - ये सब बातें

तब भी थीं। राक्षस और देवता उन कालों में भी थे। भगवान राम और कृष्ण के समय भी ये बातें थीं और अब भी हैं। थोड़ा सा अन्तर हो सकता है कि सतयुग, द्वापर, त्रेता आदि में लोग अधिक सात्विक थे। परन्तु यह कहना कि तब तामसिक या रजोगुण नहीं थे - ऐसी बात नहीं है। हाँ, आजकल कलयुग में तामसिक वृत्ति अधिक है। परन्तु साथ-साथ रजोगुण और सात्विक वृत्ति भी विद्यमान है। आभाव किसी का नहीं है।

हम सब अर्जुन की संतान हैं और यह चाहते हैं कि हमारा यह मन जो सारे अतीत के तीन गुणों का प्रतीक है, जैसा अर्जुन चाहता था, एक क्षण में क़ाबू में हो जाए। इस मन को ही क़ाबू में करने के लिए ही तो हम साधना करते हैं। भाई लोग बड़ी सरलता से स्पष्ट लिखते हैं कि साधना में केवल सुबह शाम दस-बीस मिनट बैठें या न बैठें या किसी दिन मन नहीं करता तो साधना नहीं भी करी। कई-कई दिन हो जाते हैं साधना नहीं करते। यह तो साधना नहीं है। कोई बताते हैं कि उनका काम ही ऐसा है कि वे साधना नहीं कर पाते। ख़ास कर बहनें कहती हैं कि उन्हें समय ही नहीं मिलता। जो लोग इतना भी कर लेते हैं उनके लिए यह भी ईश्वर की कृपा है कि कुछ तो कर लेते हैं। जब तक मन नहीं सधता हम आत्मा के आयाम में प्रवेश नहीं कर सकते। किन्तु घबराने की कोई ज़रूरत नहीं है क्योकि जब हम दीक्षा लेते हैं तब हम शपथ लेते हैं कि हम प्रयास करेंगे - धर्म का जीवन जीने का अधिकाधिक प्रयास करेंगे। ऐसा एक दम नहीं होगा यह गुरुजन भी जानते हैं इसलिए वे वही शपथ दिलाते हैं जो हम पूरी कर सकें यानी यथाशक्ति प्रयास करने की।

साधक के लिए पहला क़दम जो होना चाहिए वह है : अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति सचेत रहना। उस ध्येय का ध्वज कभी नीचा नहीं होना चाहिए। हमारा आदर्श प्रति क्षण हमारे सन्मुख रहना चाहिए। किन्तु होता यह है कि हम बोलते समय, खाते-पीते समय, सारे दिन काम करते हुए उस आदर्श को भूल जाते हैं। हम उस आदर्श को अपने व्यवहार में, निजी बर्ताव में, परिवार या समाज के साथ व्यवहार में भूल जाते हैं। किसी को याद नहीं रहता उस आदर्श का मतलब कि हम परमात्मा को - या परमात्मा को जिस रूप में भी हम पूजा करते हैं, उस इष्ट को सदा याद रखें। हो सके तो उस रूप के साथ तदरूप होकर रहें। साथ-साथ वैराग्य और अभ्यास सतत चलता रहे जिसका उपदेश भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दिया है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, वैराग्य शुरू होता है विवेक से। जब तक कि विवेक पक्का नहीं होगा, वैराग्य कभी दृढ नहीं हो सकता। महापुरुष थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कह जाते हैं। इसलिए उन्होंने ' पहले वैराग्य और अभ्यास ' ही बताया है सारी ज्ञान-साधना नहीं बताई है। विवेक, वैराग्य, ज्ञान और मोक्ष - इन सब का भेद नहीं बताया है। वैराग्य शब्द में बड़ा कुछ छिपा है। वैराग्य का मतलब यह नहीं कि दुनिया से, या घर से नाराज़ हों तो इसे त्याग कर कहीं निकल जाएँ। यह तो वैराग्य नहीं, क्रोध है। यह अपने प्रति आघात है। अपने आप फांसी पर चढ़ने की बात है। क्रोध नहीं आना चाहिए। दूसरे पर भी क्रोध नहीं आना चाहिए। क्रोध जब भी आये अपने आप पर ही आये। ' अपने आप ' का मतलब है कि यह सोचें कि आख़िर मेरा संतुलन क्यों बिगड़ गया। क्रोध का मतलब यह नहीं कि दीवारों के साथ माथा पीटें। होश में आएं और सोचें कि मैनें संतुलन क्यों खो दिया ? उसका कारण ढूंढें और स्वयं को संतुलन में ले आएं। यह विवेक है - हंस गति है ।

हंस क्या करता है ? वह दूध पी लेता है, पानी छोड़ देता है । मोती चुन लेता है, सीप को,छोड़ देता है। मनुष्य को हंस-गति पाने की प्रेरणा दी जाती है । परन्तु मनुष्य का स्वभाव प्रायः यही है कि वह दूध को छोड़ देता है, पानी पी लेता है। नेकी को छोड़ देता है, बुराई को जल्दी सीखता है। आप कहीं बैठ जाइये और देखिये कि चार आदमी बैठे हुए क्या बातें कर रहे हैं - निन्दा ही निन्दा, सब एक दूसरे की आलोचना, प्रतिक्रिया कर रहे हैं। यह पार्टी ख़राब है, वह लीडर बुरा है, यह संत ख़राब है, यह मेरे परिवार के लोग ख़राब हैं, आदि-आदि । जब तक ऐसा करते रहेंगे तब तक वे अपने मन को अशुद्ध करते रहेंगे । जितनी कमाई की हुई होती है सब चली जाती है। ऐसा करने से गर्क हो जाती है ।

आपको यदि आलोचना करनी है तो अपनी करो। दूसरों की निंदा मत करो। जो आपकी निंदा करता है वह आपको सतर्क करता है ताकि सतर्क होकर आप अपनी बुराइयों को दूर कर सकें। कबीर साहब इसलिए कहते हैं की निंदक को अपने आंगन में बिठाओ। " निंदो, निंदो, मोको निंदो " जितनी मेरी प्रतिक्रिया होगी, जितना मेरा अपमान होगा उतना ही मैं अपने आपको जानने की कोशिश करूंगा और मैं सत्यता की और बढ़ूंगा। अपनी बुराइयों से मुक्त होने के लिए बहुत कुछ करना होगा, केवल सिद्धांतों से कुछ नहीं होगा।

संक्षिप्त रूप में, जैसा भगवान् ने कहा है निवेदन करता हूँ - विवेक धारण करो, बोलने में, खाने में, देखने में, सब बातों में विवेक धरो। कुछ भाई कहते हैं कि - "हमारी परिस्थितियां ऐसी हैं कि हम मज़बूर हो जाते हैं। विवेक कैसे धारण करें। मैं व्यापारी हूँ, व्यापार करता हूँ, जिसमें बहुत सारी बुराइयाँ करनी पड़ती हैं। कहाँ जायेगा मेरा विवेक। सत्यता को अपना नहीं सकता, उसके लिए हिम्मत चाहिए। हिम्मत मेरे में है नहीं। यह डर लगता है कि मैं रोटी कहाँ से खाऊंगा।" वास्तव में हमें ईश्वर में विश्वास नहीं है। विवेक धारण करना मुश्किल तो बड़ा है। विवेक का मतलब है सत को धारण करना, असत को छोड़ना। हमारा भोजन, खान-पान यदि बुरी कमाई को है, बुरे विचारों और ग़लत काम करके मिला है तो हमारा ह्रदय निर्मल कैसे होगा ? यह दो -चार-दस मिनिट बैठना तो ठीक है - परमात्मा कुछ तो कृपा करते हैं [परन्तु इससे कुछ होने को नहीं है।मैं जब आपको कह रहा हूँ तो पहले स्वयं अपने आपको कह रहा हूँ। मुश्किल तो बहुत है, इससे मैं आपसे सहमत हूँ। मेरी सहानुभूति है आपके साथ। बड़ा समय चाहिए विवेक पर कहने के लिए।

जब विवेक सध जाता है तो वैराग्य अपने आप सधने लगता है। अर्थात विवेक द्वारा हम उन बातों को अपनाये जो साधना में हमें सहयोग देती हैं और शेष को छोड़ते चलें। तो हम सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकते हैं। सन्यास आश्रम का मतलब सर मुंडा लेना या गेरुए रंग के कपड़े पहन लेना नहीं है। सर को मूँड़ने का मतलब है कि एक भी इच्छा नहीं रहे। संसार के साथ हमारा मोह टूट जाये, निर्मलता आ जाये। गेरुवा रंग आत्मा का प्रतीक है, परन्तु हमें सचमुच आत्मरत होना है, भीतर में भी - केवल बाहर में ही नहीं। मगर हममें अभी भी परिपक्वता नहीं आयी है। ज्ञान तो तब शुरू होगा जब आत्मा की समीपता मिलेगी। अभी भी मन धोखा दे सकता है। आत्मा के स्थान में स्थिर रहना, निरन्तर स्थिर रहकर प्रयास करते जाना है तब एक दिन ऐसा आएगा कि हमारा मोह छूट जायेगा। इस मोह को छोड़ने के लिए गीता में बहुत समझाया गया है। अहंकार छूट गया, इच्छाएं छूट गयीं, राग-द्वेष छूट गया - परन्तु सब से ज़्यादा मुश्किल आती है - 'मेरापन तेरापन 'छोड़ने में।

अब उस सूरज रुपी सन्यासी को सिवाय अपनी आत्मा के, परमात्मा के, अन्य कुछ दीखता ही नहीं। विचार भी नहीं आते। सब जगह अपना ही रूप है, सब जगह आत्म-प्रकाश ही आत्म-प्रकाश है। उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, उसमें और परमात्मा में कुछ अन्तर है

ही नहीं। बीच में जो ' मैं ' थी वह भी खत्म हो गयी। वह सोचता नहीं है कि मैं और परमात्मा अलहदा हैं। 'मैं' है ही नहीं तो सोचेगा कौन ? परमात्मा ही परमात्मा रह जाता है। इसके आगे एक और स्थिति आती है, वह सबके साथ नहीं आती। जिनसे कुछ काम लेना होता है, प्रभु उनको दुबारा संसार में भेज देते हैं और फिर सोद्देश्य जीवन-यात्रा संसार में दोबारा करवाते हैं। एक मार्ग-दर्शक बनना होता है। उनको ड्यूटी (उत्तरदायित्व) दिया जाता है कि वे दूसरों का भी उद्धार करें। यह परमात्मा का, प्रकृति का तरीक़ा है।

कितना दयालु हैं परमात्मा ? आप तो स्वयं कर नहीं रहे परन्तु ऐसी महान आत्माओं के द्वारा करवाते हैं जो हमारे जैसे सामान्य व्यक्ति लगें, जो हमारी भाषा समझते हों, बोलते हों। हमारे यहां इन विभूतियों को अवतारी पुरुष कहते हैं, सूफियों में कहते हैं ' हम-अज़-ओस्त' पहले हम ओस्त हो जाते हैं। ' अहं ब्रह्मास्मि ' (मैं वही हूँ) जो यहां कहा नहीं जाता, केवल मौन में ही व्यक्त हो जाता है। प्रभु से एकता केवल मौन में ही व्यक्त होती है। एकता भी एकांगी स्वार्थ है। लोक कल्याण हेतु तो सेवा भी करनी चाहिए। ऐसा बन कर दूसरों को भी बनाने की कोशिश करनी चाहिए। वह 'हम-अज़-ओस्त' (मैं हूँ) ठीक है। जैसे लार्ड क्राइस्ट कहते हैं -" मैं और मेरे पिता एक हैं" ठीक है। वह प्रभु के बेटे बन कर या सेवक बन कर संसार की सेवा करते हैं।

पूज्य गुरु महाराज का उपदेश था कि यह यात्रा बड़ी लम्बी है परन्तु घबराएं नहीं। अपने लक्ष्य के ध्वज को उठाये चलें, बढ़ते रहें। छोटे-छोटे तथा प्रति दिन के कार्य करते समय भी कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए। सबसे प्रमुख खाना खाने की बात लें। जब हम खाना खाने बैठते हैं, कम से कह उस वक्त तो बातचीत न करें। स्वच्छ होकर, पूर्णतः शांत मन से, प्रभु के ध्यान में, शुद्ध कमाई का भोजन करें। यथासम्भव शाकाहारी, कम तला हुआ, और कम मिर्च-मसाले वाला आहार साधकों के लिए उपयोगी है। हमारा पुराना तरीक़ा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना भोजन स्वयं बनाता था। नहा धोकर, स्वच्छ स्थान पर, स्वयं अपने हाथों से भोजन बनाना और ईश्वर की याद के साथ भोजन करना, बहुत सुन्दर रिवाज़ था। ।

अब आजकल जो हमारे घरों में हो रहा है वह बहुत हानिकारक है। जब हम भोजन बनाते हैं, उसके साथ जो कुछ हमारी ऑखें देखती हैं, जो हमारे कान सुनते हैं, जो मन में

भाव-भावनाएं होती हैं - वह सब भी हमारे भीतर में साथ जाता है, बल्कि उसका प्रभाव अधिक होता है। वह हमारी भीतर की शुद्धि नहीं होने देता। भोजन भी साधना का एक मुख्य अंग है ताकि हम अपने अन्तर को शुद्ध कर सकें। कहा जाता है कि : "जैसा होगा अन्न वैसा होगा मन "।

पुनः निवेदन कर रहा हूँ कि यह यात्रा लम्बी है - घबराएँ नहीं, चलते चलें, रुकें नहीं। पूज्य गुरु महाराज के शब्दों को भूलें नहीं। हमारी ये वृत्तियाँ एक दिन में खत्म नहीं होंगी। अपनी वृत्तियों से परेशान न हों।वह तो धीरे -धीरे ही खत्म होंगी। हाँ। कोशिश करते रहें, कोशिश करते हुए आपका रोना भी ठीक है। ये रोना भी आपकी सहायता करेगा। भगवान के चरणों में बैठकर ख़ूब रोना चाहिए। जब भी घबराहट आये उस वक्त ख़ूब रोना चाहिए। पश्चाताप और विरह की पवित्र अग्नि में जलना चाहिए। इससे हमारा चित्त निर्मल होता है। इससे सुलभ कोई और तरीक़ा नहीं है।

महापुरुषों की विरह की वाणी पढ़नी चाहिए। सभी भक्तों-संतों ने अपनी रचनाओं का सृजन प्रभु प्रेम की पीड़ा में निकलती हुई अश्रुधारा से किया है, जिसका पठन-पाठन, श्रवण-गायन आज भी हमें आत्मविभोर करने में सक्षम है। हमें भी पश्चाताप और प्रार्थना के आँसुओं से अपनी वृत्तियों को धोना है। फिर निर्मल होकर हिरण की नाभि में छिपी हुई कस्तूरी वाले सत्य को (अपने भीतर में समाये 'आत्मतत्व ' को पहचान कर और भटकना छोड़कर परमार्थ पथ की साधना में लगे रहना है। ' सत्य' को जानकर इस मार्ग पर बिना निराशा या घबराहट के अटल विश्वासपूर्वक चलते रहें। 'मंज़िल' कभी न कभी तो मिलेगी ही।

गुरुदेव आपका कल्याण करें।

राम सन्देश : मई १९९४

परमार्थ साधना में साध्य और साधन - संत-सद्गुरु एवं उनकी संत-प्रसादी

परमपूज्य गुरुदेव महात्मा डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी महाराज की वाणी में, " संत की पहिचान है कि उनके पास बैठने से आपकी भीतर की कमियां उभर आएं। अपनी कमज़ोरियों की जानकारी मिलने लगे और उन कमज़ोरियों को दूर करने की भावना पैदा हो। ईश्वर सम्बन्धी तरह-तरह के सवाल पैदा होने लगें, मन में बार-बार उसी से जुड़ी भावनाओं को उत्साह मिलने लगे, तो आप इससे अनुभव करेंगें की यहां से (संत के सत्संग से) आपको शांति मिल सकती है।"

संत कौन है ?

हमारे शास्त्रों ने और सब महापुरुषों ने संतो की स्तुति का गायन किया है। संत वह व्यक्ति है जो सत्य की मूर्ति है। परमात्मा सत्य है और संत ऐसा व्यक्ति है जो सत्य से परमात्मा में तदरूप है। उसके भीतर और बाहर परमात्मा ही परमात्मा है। परमात्मा सूर्यों का सूरज है। इसी तरह संत भी सूर्य के समान है। सूर्य की रश्मियों की तरह परमात्मा की कृपा भी प्रत्येक पर एक जैसी पड़ रही है।

ईश्वर व संत में क्या अंतर है ? ईश्वर की कृपा सबके लिए समान है। सूरज का प्रकाश सारे संसार के लिए एक जैसा है। जैसे सूरज के सामने काला कपड़ा रख दें और बीच में आतशी शीशा (मैग्नीफाइंग ग्लास) रख दें तो काला कपड़ा जलने लगता है। यही अंतर परमात्मा व संत में है। परमात्मा की कृपा तो सब पर एक जैसी ही पड़ रही है। संत के ह्रदय से जो प्रकाश मिलता है, वह आतशी शीशे की तरह मलीन मल को जलाकर निर्मल कर देता है।

गंगा माई से पूछा गया कि आप इतनी पवित्र कैसे हैं ? उन्होंने उत्तर दिया कि -" मैं इसलिए निर्मल हूँ, इसलिए सबको शांति और सुख प्रदान करती हूँ, क्योकि मेरे जल में संत स्नान करते हैं। मैं तो उन संतों के स्पर्श से, उनके गुणों को धारण करके संसार की सेवा करती हूँ। ऐसे संतो के दर्शन तब प्राप्त होते हैं जब हमारे पिछले जन्म के संस्कार अच्छे हों। पूर्व जन्मों के शुभ कर्मों कि कमाई साथ तो संतों की समीपता प्राप्त होती है।

संत सद्गुरु की समीपता का लाभ

पूज्य गुरुदेव फरमाते रहें हैं कि संसार में ईश्वर प्राप्ति की सहस्त्रों पद्धतियां और साधन हैं। वो सभी सही हैं। कोई सच्चा संत मिल जाये तो उसके पास बैठने से भी हमारा उद्धार हो सकता है।उसके शरीर से आत्मिक रश्मियाँ प्रतिक्षण निकलती रहतीं हैं । जैसे यज्ञ का प्रकाश, ध्वनि, सुगन्धि चारों ओर फैल जाती है उसी तरह संत जहां भी बैठते हैं वो स्थान तीरथ हो जाता है। उनके शरीर से निकलने वाली आत्मिक रश्मियाँ चारों ओर फैलती हैं। यदि उनके समीप श्रद्धा से अर्पण करके बैठें तो सच्चे साधक को अपनी त्रुटियां, अपनी कमियां दीखने लगेंगी।

संत बोलते नहीं हैं। शब्दों की जो भाषाएं हैं वो मौन की भाषाओं से किसी क़दर कमज़ोर हैं महर्षि रमण से लोग कहते थे कि आप बोलते क्यों नहीं ? मंच पर आकर आप लोगों को उपदेश क्यों नहीं करते ? महर्षि रमण फ़रमाया करते थे कि मौन की वाणी में कई गुना अधिक शक्ति होती है। सच्चे संत अधिक नहीं बोलते। वो मौन में ही कृपा-दृष्टि करते हैं, हमारा उद्धार करते हैं। ऐसे संत के पास बैठने पर प्रेरणा मिलती है जिससे मन भीतर में सोचने लगता है- ' अरे मैं इस महापुरुष के पास बैठा हूँ पर मेरे भीतर में इतनी मलीनता है। ' अपने आप को तुच्छ समझने लगता है, बुरा-भला कहने लगता है,और फिर भीतर से प्रेरणा होती है कि क्यों न वो अपनी त्रुटियों से मुक्त होवे।

संत के पास बैठने से एक सरूर आता है - जैसे किसी प्रकार का नशा हो। नशा कब आता है ? जब मन स्थिर हो जाता है। नशा पीने वाले पीने के बाद यही कहते हैं कि बड़ा ही आनन्द आया। आनन्द किस बात का आता है। नशे के कारण अंग, स्नायु और मन, बुद्धि सब स्थिर हो जाते हैं। संकल्प- विकल्प नहीं उठते। इस कारण से नशा पीने वाला कहता है कि बड़ा ही आनन्द आया। जैसे सुषुप्ति में सोकर व्यक्ति उठता है तो कहता है कि आज बड़ा ही आनन्द आया। तो जब ऐसे संत के पास जिज्ञासु बैठता है तो उसका मन स्थिर होने लगता है।संकल्प-विकल्प ख़त्म होने लगते हैं जिससे उनको आनंद की अनुभूति होती है।

ऐसे महापुरुषों के चरणों में जिज्ञासु बार-बार जाये और जाता रहे तो अन्य कोई साधन करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी वही बुद्धि हो जाएगी जो संत की अपनी है। इसी का नाम सत्संग है अर्थात सत्य का संग। बड़ा सरल तरीक़ा है परन्तु पूज्य गुरुमहाराज फ़रमाया करते थे कि ऐसा संत हज़ार साल बाद आता है। हम जितने लोग हैं, हम तो सेवक हैं। अपने

आपको संत कहलाना भी एक अहंकार वृत्ति है।

प्रत्येक जिज्ञासु को जीवन भर इस खोज में रहना चाहिए कि इस संसार में कोई सच्चा संत मिले। यदि पता लग जाये तो श्रद्धा से जाकर उसके चरणों में जाकर बैठ जाना चाहिए। वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। शंकाएं हों तो उनके लिए निवेदन करना चाहिए। परन्तु तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। इससे मन चंचल हो जाता है तथा ऐसी चंचलता के कारण ऐसे संत के ह्रदय से जो आत्मिक रश्मियाँ आती हैं, जो आत्मिक प्रसादी आती है, वो रुक जाती है। जो गुरु प्रसादी आ रही है, वो प्राप्त नहीं होती।

पुराना इतिहास उठाकर देख लीजिये - जितने भी महापुरुषों का उद्धार हुआ है, इसी संत प्रसादी या गुरु प्रसादी के कारण हुआ है। मेहनत करने वाले तो लाखों होंगे और मेहनत करना बुरा नहीं है। जब तक ऐसे महापुरुष नहीं मिल जाएँ जिसकी प्रसन्नता की प्रसादी प्राप्त हो, तक उसकी खोज के प्रयास में लगे रहना चाहिए।

स्वामी विवेकानंद स्वामी रामकृष्ण परमहंस से दूर रहते हैं। परन्तु गुरु बड़े ही दयालु हैं, उनमें करुणा है। छत पर चढ़ जाते हैं, ऊंचे-ऊंचे स्वर में पुकारते हैं -" नरेंद्र तू कहाँ है? तू आता क्यों नहीं ?" स्वयं ब्रह्म समाज में जाते हैं, नरेंद्र (विवेकानंद) को देखने के लिए। नरेंद्र सोचता है - यह बाबा को क्या हो गया ? मेरे पीछे क्यों पड़े हैं ? उसका युवक मन कुछ और ही समझ रहा है । वह ब्रह्म समाज में रहकर कुछ अधिक तर्कवादी हो गए थे। यह कोई अवगुण नहीं है - बिद्धिवादी व्यक्ति में तर्क करने की कला होती ही है, किन्तु हर बात की ज़्यादती यानी अति बुरी होती है। परमहंस की तो उनपर अहैतुकी कृपा थी परन्तु नरेंद्र शंका करते हैं । परमहंस कहते हैं कि " हमें माया से बहुत डर लगता है, हमारा शरीर कांपने।लगता है । " विवेकानंद सोचते हैं कि यह कैसे हो सकत है ? अतः उनको विचार आया कि चलो आज इनकी परीक्षा लेते हैं ।

अगले दिन स्वामी रामकृष्ण के बिस्तर के नीचे आपने कुछ रूपये रख दिए। स्वामी जी आये और बिछावन पर बैठे । कुछ ही देर बाद स्वामी जी कहने लगे, " क्या बात है, आज मन नहीं लगा ? भीतर में उथल-पुथल हो रही है। क्या कोई तांत्रिक चीज़ है ? किसी तांत्रिक का प्रहार तो नहीं हो रहा ? ज़रा यह बिस्तर, कपड़े उठाकर तो देखो। बंगाल में तांत्रिक विद्या का बड़ा प्रभाव है । बिस्तर उठाया गया । देखा, वहां कुछ रूपये रखे हैं । उन्होंने बुरा नहीं माना, वे समझ गए कि यह काम कोई और नहीं कर सकता, केवल नरेंद्र ही कर सकता है । और फिर वह शांत भाव से मुस्करा दिए।

स्वामी विवेकानंद ने एक बार नहीं, कई बार रामकृष्ण परमहंस की परीक्षा ली। बड़ी मुश्किल से समर्पण किया। उन्होंने कोई साधना नहीं की, केवल अपने इष्टदेव के संपर्क में,

उनके अति निकट सानिध्य में रहे। उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप विवेकानंद जी विवेक स्वरुप हो गए, ज्ञान स्वरुप हो गए। रामकृष्ण परमहंस का शरीर छूट गया तब भी पूर्ण संतुष्टि नहीं थी उन्हें।

जब शिकागो (अमेरिका) में गए जहां विश्व भर की धर्म सभा (वर्ल्ड कांफ्रेंस ऑफ रिलीजंस) में इन्हें भाषण देना था। सोचने लगे कि क्या भाषण दूंगा ? इतने विद्वान विश्व के कोने-कोने से आये हैं, मैं क्या बोल सकूंगा ? रात्रि में विलक्षण अलौकिक गुरु-कृपा हुई। परमहंस स्वामी रामकृष्ण प्रकट हुए और सारा लैक्चर जो उन्हें दूसरे दिन देना था, अंग्रेजी भाषा में, जिससे वह अनभिज्ञ थे, विवेकानंद को सुना दिया। विवेकानंद जी की स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। वह जो पुस्तक पढ़ते थे, वह उन्हें उसी वक्त याद हो जाती थी।

प्रातः जब विवेकानंद जी ने भाषण दिया है तो विश्व भर के जितने विद्वान वहां थे वे सब चकित हो गए। सभी ने उनकी बहुत तारीफ़ की। यह युवक है, छोटी सी उम्र है, इनके सिद्धांत, तथ्य, विचार और कहने का ढंग व इनका आत्मिक प्रभाव ऐसा था कि जितने लोग वहां बैठे हुए थे उन सब पर प्रभाव पड़ा। सब लोग विवेकानंद के प्रशंसक हो गए। यह गुरु की कृपा, उनके सत्संग की कृपा का चमत्कार है।

ईश्वर कृपा करें कि आप सबको भी ऐसे संतों की संगति मिले। आपके भीतर में जितनी मलीनता है वो गंगा स्वरुप संतों के पास बैठकर सब धुल जाये। आप भी निर्मल हो जाएं। आशा, इच्छाओं और काम-वासनाओं से मुक्त हो जाएँ। एक विशेष आनंद की अनुभूति करें। रोम-रोम में परमात्मा के आनंद की अनुभूति करें।

" अंग अंग सुखदायी पूरन ब्रह्म " अर्थात पूरे शरीर के अंग-अंग से परमपिता परमात्मा का जो अनंत सुखदायी अमृत है उसकी अनुभूति आपके रोम-रोम में हो।

गुरु से प्राप्ति करें : नाम की

तो ये है सत्संग की महिमा। यदि ऐसी कृपा हो जाये तो ऐसे महापुरुष के पास हर पल सतर्क तथा श्रद्धा से रहना चाहिए एवं उनके आदेशों व उपदेशों का अक्षरशः पालन करना चाहिए। तब ही वे हमें नाम प्रदान करते हैं, जिसे संतों की भाषा में सत्तनाम कहते हैं। कबीर साहब और गुरु नानकदेव जी भी नाम ही कहते हैं। राधास्वामी मत में भी यही अंतिम नाम है और हमारे शास्त्रों में भी इसका वर्णन है।

सत्तनाम कोई नाम नहीं है। सत्तनाम दूसरा नाम है आत्मा का। संत जो सन्त-प्रसादी या गुरु-प्रसादी प्रदान करते हैं वो नाम ही परमात्मा का रूप है। सतपुरुष अपनी कृपा से जो नाम प्रदान करते हैं वो नाम, वो अमृत हमारे रोम-रोम में समा जाता है। उस नाम की भी रक्षा करनी होती है। वो ही रामकार लगानी होती है। संसार में बड़े प्रलोभन होते हैं। इतनी उच्चकोटि की प्राप्ति के बाद भी मनुष्य के पतन की संभावना रहती है। एक ऐतिहासिक प्रसंग देखिये :-

बनवास के दिनों में सीता जी अपनी कुटिया में हैं। भगवान राम मृग के पीछे गए हैं। सीता जी कहती हैं -" लक्ष्मण, बहुत देर हो गयी है , जाओ अपने बड़े भैया को ढूंढ कर लाओ।" लक्ष्मण कहते हैं - "नहीं, मैं भाई की आज्ञा से आपकी रक्षा में बैठा हूँ। मैं कैसे जाऊं ?" नारी का हठ बड़ा ज़बरदस्त होता है और उस समय स्थिति कुछ ऐसी थी कि लक्ष्मण विवश हो गए। परन्तु उसने रामकार (लक्ष्मण रेखा) लगाई। महापुरुषों को ऋद्धियाँ- सिद्धियां प्राप्त होती हैं। तो यह कोई ऐसी बात नहीं कि लोग कहें कि लकीर लगा दी तो उससे क्या होता है ? नहीं, होता है। लकीर में भी शक्ति आ जाती है। इसीलिए इसको रामकार कहा जाता है। अतः लक्ष्मण ने विवश होकर सीता से कहा कि - " माता, मैं जाता तो हूँ, परन्तु आप इस रेखा से बाहर मत जाना"।

परन्तु विधाता ने रचना पहले ही रची हुई थी। होनी तो रामायण में लिखी थी। यह जो कुछ रामायण में लिखा है, आपने पढ़ा है। वह तो होना ही था। सीता जी रावण को भिक्षा देने के लिए रामकार से बाहर आ गयीं और रावण उनका हरण करके ले गया। आगे जो कुछ हुआ आप सबको मालूम ही है। भाव यह है कि नाम की प्राप्ति हो जाये तब भी रामकार लगाए रखना चाहिए। नाम की रक्षा करनी चाहिए। यही गुरु की सच्ची सेवा है।

गुरु हाथ पाँव की सेवा नहीं चाहते। गुरु पैसों की सेवा या सम्मान की सेवा भी नहीं चाहते। वो ऐसा कुछ नहीं चाहते। जैसे कि ईश्वर आपसे कुछ नहीं मांगता वैसे ही संत या गुरु भी आपसे कुछ नहीं चाहता। वह तो आपसे केवल यही चाहते हैं कि उन्होंने आपको जो ' नाम ' प्रदान किया है आप उसकी रक्षा करें और नाम-रूप हो जाएँ। यही संत की सच्ची सेवा है।

अन्य भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवाएं हैं, वो भी अपनी श्रद्धा और प्रेम को बढ़ाये रखने के लिए लाभकारी हैं, सो करनी चाहिए। परन्तु वास्तविक सेवा है - गुरु के आदेश का पालन

करना। और वो आदेश क्या होता है ? यही, कि उसने आपको जो नाम दिया है, जो गुरु प्रसादी दी है, या भगवती प्रसादी रूप -अमृत-नाम दिया है, उसकी रक्षा हो। यह नाम जो शब्दों में लिया जाता है वास्तव में यही नाम नहीं है। नाम व नामी में कोई अन्तर नहीं है। वह परमात्मा ही है। उसको आत्मसात करो। अर्थात उस नाम से पलभर को भी दूर नहीं होना है। अपने व्यवहार से उस नाम की शक्ति क्षीण न होने दो।

तो संतमत में ये ही मुख्य साध्य और उसकी प्राप्ति का साधन है। सच्चे संत का संग एवं उसकी

गुरु-प्रसादी की प्राप्ति जिसको साधारण भाषा में नाम कहते हैं। जिज्ञासु को ध्यानपूर्वक इन्हीं की सच्ची जिज्ञासा और आकांक्षा प्रकट करनी चाहिए। शेष परमात्मा स्वयं ही प्रबंध कर देंगे।

गुरु महाराज कृपा करें।

राम सन्देश मार्च-अप्रेल, २००२

प्रेमाभक्ति है : प्रेमाश्रु - गंगा स्नान

भक्त शिरोमणि मीराबाई कृष्ण भगवान के प्रेम में दीवानी थीं। उन्हीं की वाणी में - "असुअन जल सींच-सींच प्रेम बेल बोई।" प्रेम की बेल को तो अश्रुजल से सींचना होता है। वास्तव में प्रीतम की प्रीत पाने के लिए बहुत रोना पड़ता है, तड़पना पड़ता है। यही भाव कविवर मालिक मोहम्मद ने व्यक्त किया है। **" जे नहिं सीस प्रेम-पथ लावा, सो कहिक या जग महिं आवा।"** कवि कहता है कि जिसने प्रेम के लिए अपना सिर न्योछावर नहीँ किया उसका जन्म लेना निर्थक है। इसी प्रकार एक सूफी संत की कहावत तो यहां तक है कि जिसके ह्रदय में अपने प्रियतम के प्रति विरह उत्पन्न नहीं हुआ उसके सिर को काट देना चाहिए। प्रेमाभक्ति में यदि साधक के ह्रदय में अपने प्रियतम के, अपने गुरु के प्रति विरह भावना उत्पन्न नहीं हुई तो वो केवल बातें ही करता है, उसका प्रेम वास्तविक नही है। हम भगवान की रासलीला में देखते हैं कि गोपियाँ भगवान के दर्शनों के लिए कैसे व्याकुल हो जाती हैं।

विरह कैसे उत्पन्न हो।? जिस व्यक्ति को यह स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ है कि वो किससे प्रेम कर रहा है, किसकी साधना कर रहा है, उसका साध्य क्या है, उसका ध्येय क्या है, तो वह सच्चा प्रेमी नहीं बन सकता। यदि उसको उसके इष्टदेव नहीं मिलते तो वह मछली की तरह तड़पता है या नहीं। अगरचे मछली जैसी तड़प अभी पैदा नहीं हुई है, तो वह अभी अधिकारी नहीं बना है। कुछ साधकों को भजन गाकर या प्रवचन सुनकर या पुस्तक पढ़कर प्रेमाश्रु आ जाते हैं, प्रेम की वृष्टि होने लगती है और प्रेम की व्याकुलता से वह धारा फूट पड़ती है। इसके प्रति कुछ लोग कहते हैं कि ये तो ऐसे ही दिखावा करते हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं वो ज़रा खुद ऐसा करके तो

दिखाएं ?

एक बार स्वामी विवेकानंद जी लाहौर गए, जहां वे स्वामी रामतीर्थ जी के पास ठहरे। विवेकानंद जी का वहां एक बड़ी सभा में भक्ति के ऊपर प्रवचन था। प्रवचन देकर जब वे स्वामीजी के घर पहुंचे तो स्वामी जी से पूछा - " मित्र, आपने मेरा आज का प्रवचन सुना होगा। आपको कैसा लगा?। वो दोनों समकालीन थे, एक जैसी आयु थी, दोनों ही बड़ी उच्च कोटि की शुद्ध आत्माएं थीं। उत्तर में रामतीर्थ जी बोले-" मित्र, यदि कुछ कहूँ तो बुरा तो नहीं मनाओगे।" उन्होंने कहा-" नहीं, मित्र की बात का बुरा क्यूँ मनाऊंगा? तब स्वामी रामतीर्थ जी ने कहा - " विवेकानंद, आप आज भक्ति पर बोल रहे थे, प्रवचन दे रहे थे। भक्ति पर बोलें और आपकी आँखों में एक भी अश्रु न हो, ये भक्ति पर कैसा प्रवचन है? दोनों युवावस्था में थे, बड़े पवित्र ह्रदय के थे। विवेकानंद जी ने माना कि स्वामी रामतीर्थ जी जो कह रहे हैं वह सत्य है।

एक बार ऐसा ही अनुभव स्वामी विवेकानंद जी को एक और स्थान पर हुआ। एक सरल व्यक्ति भगवान की मूर्ति के पास बैठा हुआ प्रार्थना कर रहा था और रो रहा था। उसके प्रेमाश्रु बह रहे थे। उसको देखकर विवेकानंद जी सोचने लगे - मेरे से अच्छा तो ये सच्चा भक्त है, क्या हुआ अगरचे यह पत्थर की मूर्ति की पूजा करता है।? ये सच्चा भक्त है। परमात्मा पत्थर की मूर्त्ति में ही प्रगट होकर दर्शन देंगे-इसकी भक्ति ज़रूर सफल होगी।उन्होंने उस सच्चे भक्त की तुलना अपने ह्रदय से की। यह वास्तविकता थी। प्रारम्भ में स्वामी विवेकानंद जी में ज्ञान तो बहुत था, वह दानी भी थे और शुरू-शुरू में वे ब्रह्मसमाज में जाया करते थे। ब्रह्मसमाज आर्यसमाज का ही दूसरा रूप है। वे तर्क बहुत करते थे। अपने गुरु परमहंस स्वामी रामकृष्ण देव जी से भी तर्क करते थे। वे विवेकानंद जी को बहुत चाहते थे। जब वे ब्रह्मसमाज जाते थे तो स्वामी जी आपके पीछे-पीछे जाते, विवेकानंद जी सोचने लगते इस बूढ़े को क्या हो गया है? यह मेरे पीछे क्यों आता है ? विवेकानंद जी अभी समझ नहीं सके थे कि स्वामी रामकृष्ण जी उन्हें क्या बनाना चाहते हैं? बाद में जब विवेकानंद जी अमेरिका गए। वहां उन्हें आल वर्ल्ड कांफ्रेंस में प्रवचन देना था और उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था। उन्होंने ने रात में अपने गुरु महाराज परमहंस स्वामी रामकृष्ण देव जी को याद किया। तब रात में उन्होंने अपने अंतर्ज्ञान (intuition) से विवेकानंद जी को जाग्रत अवस्था में लैक्चर (प्रवचन) समझाया। विवेकानंद जी की बुद्धि बड़ी तीव्र थी - एक दफा जो पढ़ लेते या सुन लेते थे वह उनको याद हो जाता था। दूसरे दिन उन्होंने अपना प्रवचन दिया। वहाँ दूसरे जो प्रतिनिधि (deligates) थे जो

भिन्न-भिन्न देशों से आये हुए थे, उन्होंने मज़ाक किया कि यह युवक धर्म पर क्या बोलेगा ? यह किनकी मजलिस में बोलने आया है ? शुरू-शुरू में उनका मज़ाक उड़ाया गया किन्तु बाद में जब उन्होंने प्रवचन दिया और प्रवचन देने के बाद हॉल से बाहर आये तो वो ही सारे लोग जो यह समझते थे कि धर्म पर उनसे अच्छा कोई और नहीं बोल सकता, वो सब स्वामीजी के पीछे-पीछे भाग रहे थे। जैसे जब भगवान कृष्ण जब बासुरी बजाते थे तब गोपियाँ उनके पीछे-पीछे भागती थीं, उसी प्रकार से वे भी भाग रहे थे और निवेदन कर रहे थे कि हमारी बात सुनिए।

ये सब ऐसा क्यों हुआ? कब हुआ ? जब उनके ह्रदय में कोमलता आयी, जब उन्होंने प्रेमाश्रुओं की गंगा में स्नान किया। वो व्यक्ति धन्य हैं जिनके चक्षुओं से यह प्रेम गंगा बहती है। उनका ह्रदय बहुत भावुक और करुणामय होता है। वे धन्य हैं। हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। गंगा स्नान करना ठीक है, बहुत पवित्र है। ऐसी जलधारा हमारे चक्षुओं से क्यों नहीं निकलती ?

हमारे ह्रदय में कोमलता नहीं है और अपने इष्टदेव से मिलने की व्याकुलता नहीं है। हम समझते हैं कि हम सब कुछ जानते हैं। कोई व्यक्ति ऐसा होगा जिसकी आंखों से भले ही एकाध अश्रु निकल आयें, परन्तु अश्रु-धारा नहीं निकलती। ये धारा, ये गंगा का प्रवाह तो उसी व्यक्ति के चक्षुओं से बहेगा जिसके ह्रदय में संवेदना है, जिसके ह्रदय में विरह है, व्याकुलता है, पागलपन है, जिसको लोक-लाज की परवाह नहीं है। ये गंगा का प्रवाह, ये अमृत वृष्टि, सारे पापों को धो डालती है। सारे संस्कारों को धो डालती है। प्रेम केवल कहने से तो नहीं होगा। प्रेम व्यक्त होना चाहिए - भीतर में भी और बाहर भी।

सच्चे जिज्ञासु इस गंगा-स्नान के लिए तरसते हैं। वो चाहते हैं कि इस प्रकार का गंगा-स्नान हम भी करें। परन्तु दुर्भाग्यवश उनके ह्रदय में वो पीड़ा पैदा नहीं हुई है, विरह की जलन नहीं है। कोमलता होनी चाहिए और व्याकुलता और विरह होनी चाहिए। इनके साथ-साथ एक और गुण होना चाहिए और वह गुण है - सरलता। बनावट के अश्रु नहीं। सहज रूप से ह्रदय से निकलकर चक्षुओं से यह प्रेमाश्रुओं की धारा बहकर प्रकट होनी चाहिए। ये प्रेमाश्रु बुद्धि से

नहीं, हृदय से निकलते हैं। ऐसा गंगा-स्नान हम सब भाई-बहिनों को प्राप्त हो। आप सब इतनी दूर-दूर से आते हैं, मुझे ख़ुशी होगी यदि आप सब इस गंगा-स्नान में पवित्र होकर लौटें ।

हमारे गुरुदेव भी कभी-कभी एकांत में भावविभोर होकर ये पंक्तियाँ धीरे-धीरे दोहराया करते थे।

" तेरा मैं क़ुर्बान जिसने दर्द पैदा कर दिया

जिसने दिया है दर्दे दिल, उसका खुदा भला करे।"

गुरुदेव सबका कल्याण करें ।

राम सन्देश अक्टूबर-दिसंबर २०१४

मन प्रतिक्षण चंचल रहता है

" मैं आपके वास्ते बता दूँ आपका अभ्यास अब काफी हो गया है। इसे बंद कर दें। इस वक्त इसकी ज़्यादा ज़रूरत नहीं मालूम देती।"

पूज्य लालाजी महाराज दादागुरु अपने प्रिय शिष्य को पत्र लिख रहे हैं।उसकी आत्मिक स्थिति देखकर फरमा रहे हैं कि भीतर का अभ्यास आपके लिए काफी हो गया है। अब अपने मन को देखिये।

भाई-बहिनों से मेरी करबद्ध प्रार्थना है इस बात को गंभीरता से सुनें और समझें और अपने पूज्य गुरुदेव के आदेशों का पालन करें। हम सब लोग भूले हुए हैं। आँखें बंद कर लेने को हम समझ लेते हैं कि इसी से सारा काम हो जायेगा। आँख तो बच्चे भी बंद कर लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यदि अपनी आंतरिक स्थिति को देखे तो वह अनुभव करेगा कि उसका मन प्रति-क्षण चंचल रहता है। राग-द्वेष में फंसा है। इच्छाओं, ईर्ष्या, क्रोध की अग्नि में जलता रहता है। घरवाले हमसे कहते हैं कि आप सत्संग में जाते हैं, वहां क्या करते हैं। आपकी स्थिति तो बच्चों से भी गिरी हुई है। इसलिए हमें सोचना है कि हम सत्संग में आये हैं, दीक्षा ली है, हमें क्या करना चाहिए ?

हमारा ध्येय है कि हम ईश्वर जैसे बन जाएँ। यदि अभी तक नहीं बने तो इसका कारण क्या है? इस पत्र में पूज्य गुरु महाराज अपने शिष्य से कह रहे हैं, ' आपने अभ्यास किया है, यह काफी है। आगे चलिए'। अपने मन का स्व-निरीक्षण करिये। आप अनुभव करेंगे कि आपके भीतर में ऐसी बुराइयां हैं जो बच्चों में भी नहीं होतीं। बुरा नहीं मानिये। गुरु किया जाता है कि वह समय-समय पर हमारा मार्गदर्शन करता रहे। हमारे दोषों को बताये। हम सब अहंकारी हैं। हम अपने दोषों को नहीं देखते। हम दूसरों के दोषों को देखते हैं। यही कारण है कि हमें हमारी साधना में पूर्णरूपेण सफलता नहीं मिलती। कोई भी व्यक्ति परिपक्व नहीं है। यहां पूज्य

गुरुदेव फरमा रहे हैं " मैं आपके वास्ते मुनासिब हाल यह समझता हूँ कि चढ़ाव का अभ्यास ब हालत मौजूदा आपके लिए काफी हो गया है। इस वक्त इसकी ज़्यादा ज़रूरत मालूम नहीं होती। लेकिन तावखते कि इन्द्रियां, मन और दीगर तत्व मग़लूब होकर तरकीब में न आ जाएँ, उस वक्त तक लताफ़ नहीं आती और न असली शांति मिलती है।'

हम अपनी इन्द्रियों के गुलाम हैं। अपने मन के गुलाम है। मन जो चाहता है वह हम करते हैं। हमारी बुद्धि हमारे मन पर हावी नहीं है। हम अपने मन और बुद्धि पर नियंत्रण नहीं रखते। मन हमारे वश में नहीं है, बुद्धि हमारे वश में नहीं है।

भीतर में और भी तत्व हैं, जैसे अहंकार है, राग-द्वेष है, अनेक अवगुण हैं जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। कई भाई लोग आते हैं, कहते हैं, बीसों बरस बीत गए, लेकिन हम जैसा चाहते थे वैसा नहीं बन पाए। सरलता में कह देते हैं, हममे क्या कमी है ? कमी तो अनेक हैं, अनेक त्रुटियां हैं। यह जीवन बड़ा कठिन है। साधना, अभ्यास आप जो कुछ भी करते हैं, उसके साथ-साथ अपने मन का स्व-निरीक्षण अवश्य करें। अपनी कमज़ोरियों को, अपने दोषों को, देखना चाहिए और कागज़ पर लिख लेना चाहिए। यह लालाजी महाराज का आदेश है। अधिकांश हम सब लोग मन के गुलाम हैं। करना यह चाहिए कि जैसा हम कहें वैसा हमारा मन करे लेकिन जो मन चाहता है, हम वह करते हैं। इसलिए साधन में सफलता मिलना कठिन है। तब तक साधना में जैसी सफलता आप चाहते हैं, नहीं मिल पायेगी। जो आनंद में बाधा डाल रहा है वह हमारा मन है। हम स्वयं बढ़ा डालते हैं और कहते हैं कि हमारा मन नहीं लगता।

पूज्य गुरु महाराज फरमा रहे हैं कि जिज्ञासु को एक वीर, एक योद्धा, एक सिपाही बनना चाहिए। उसका प्राथमिक सबक है कि वह अनुशासन में रहे। जो लोग कुछ समय फ़ौज़ में बिता आये हैं वे जानते होंगे कि फ़ौज़ में पहले यह बताते हैं कि आप मिलिट्री में आ गए हैं यहां अनुशासन का पालन करना अति आवश्यक है। सत्संगी को भी ऐसा ही करना पड़ेगा। अपने मन को, अपने शरीर को, प्राणों को, बुद्धि को वश में करने के लिए किसी बड़े व्यक्ति के अनुशासन में रहना होगा। बच्चे स्कूल जाते हैं, वे अपने अध्यापक के अनुशासन में रहते हैं उसके बाद आगे चलकर संसार में प्रवेश करते हैं।

इतिहास पढ़ लें। पत्नी को अपने पति की इच्छानुसार काम करना चाहिए। पार्वती जी ऐसा नहीं कर पायी। भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए, उनसे विवाह करने के लिए तपस्या की। सती जी देखती हैं कि आकाश मार्ग से देवगणों की एक टोली संसार (पृथ्वी) की ओर बढ़ रही है। उनसे पूछा ' क्या बात है' ? वो हंसने लगे। आपकी छोटी बहिन का विवाह है और आपको पता नहीं। यह भावुकता उतपन्न होती है। भावुकता उसके मन में उतपन्न होती है जिसका अपने मन पर नियंत्रण नहीं होता। वह अपने पति शिव से पूछे बिना अपने माता-पिता की ओर बढ़ गयी। जब पार्वती (सती)के साथ ऐसा हो सकता है तो ऐसा किसी के भी साथ हो सकता है, अति कठिन है। सती जी आईं। इसके बाद जो कुछ हुआ बहुत दुर्भाग्यपूर्ण हुआ। माता-पिता ने भी उनका स्वागत नहीं किया क्योकि भगवान शिव से उनके माता-पिता खुश नहीं थे। उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। उन्होंने अपने गणों को भेज दिया। हो सकता है कि वहां कुछ गड़बड़ हो जाये।

यह मन की स्थिति है। यदि पार्वती जी अपने पति को भूल जाती हैं तो हमारी स्थिति कैसी होगी ? आप रोज़ प्रतिक्षण देखते हैं। आपका मन आपके वश में नहीं है। मन ईश्वर के आदेशों, गुरु के आदेशों के अनुसार नहीं चलता। आपके भीतर में शक्ति दी हुई है। आप उससे पूछ कर काम करें तो गलती नहीं करेंगे। जल्दवाजी में मन के पीछे पड़ जाते हैं, इसीलिए घर में झगड़े फ़साद हो जाते हैं। मन पर विजय प्राप्त करना अति-कठिन है। हर सत्संगी का धर्म है कि वह अपने मन को वश में करें। हम अपना मन गुरु को तो दे देते हैं परन्तु गुरु के आदेशों का पालन नहीं करते।

यह पूज्य लालाजी महाराज का आदेश बहुत महत्वपूर्ण है। मैं पुराने भाइयों से भी निवेदन करूंगा, करबद्ध प्रार्थना करूंगा, कि इस पत्र को बार-बार पढ़ें। हम बड़ी जल्दी क्रोधित हो जाते हैं। कौन क्रोधित होता है - वह मन ही तो है। हमारा अपने मन पर नियंत्रण नहीं हैं। मन को बुद्धि के अधीन बनाना है। बुद्धि आत्मा या गुरु के अधीन होनी चाहिए। हम ऐसा करते नहीं। आज की सभ्यता ऐसा करती नहीं। पति-पत्नी एक समान हैं। पत्नी पति के अधीन क्यों रहे? पश्चिम में तो पति पत्नी के अधीन रहता है। परन्तु जो इस रास्तेपर चलें उन्हें इस वाद-विवाद से ऊपर उठना चाहिए। वास्तविकता को देखना चाहिए कि किस तरह हमारा मन शुद्ध, पवित्र और हमारे वश में रहता है।

पुरानी सभ्यता को न मानें, पर अपने मन को नियंत्रण में करें। भगवान शिव पार्वती से मिलने गए हैं। गणेश जी भगवान शिव को जाने नहीं देते। माता का आदेश है, माता की आज्ञा के बिना मैं आपको भीतर नहीं जाने दूंगा। उन्होंने समझा कि यह लड़का मेरा अपमान कर रहा है। क्रोध में उन्होंने उसकी गर्दन काट दी। यदि पार्वती और शिव को क्रोध आ सकता है तो हमारी क्या बिसात है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी व्यक्ति के अधीन रहना चाहिए। मेरी बात का बहिनें बुरा न मानें। और भाई लोग भी बुरा न मानें। यह ज़रूरी है कि वे किसी व्यक्ति के अधीन रहकर अपने जीवन को ईश्वरमय बनाने का प्रयास करें। क्रोध पुरुष को भी आता है, स्त्री को भी आता है। स्त्री भूल जाती है कि मुझे क्रोध आता है और पुरुष भी भूल जाता है कि उसे क्रोध आता है। इसी तरह घर में महाभारत का युद्ध होता रहता है। जहां महाभारत का युद्ध होता रहता हो वहां आत्मा की कोमलता कहाँ से आएगी, आत्मिक अनुभूति कब होगी, परमात्मा के दर्शन कब होंगे ? हो ही नहीं सकते। इसलिए अपना व्यावहारिक जीवन कोमल बनाने की कोशिश करें।

जब तक भीतर में कोमलता,शुद्धता और सात्विकता नहीं आएगी, साधना में कोई लाभ नहीं होगा। प्रत्येक कर्म का फल कुछ न कुछ तो होता ही है परन्तु जितनी आशा आप लेकर आते हैं वह निराशा में ही रहेगी।

इन्द्रियों और मन दोनों पर विजय प्राप्त करनी है। खाना खाते हैं, भोजन बहुत स्वादिष्ट होता है, पेट की बीमारी को भूल जाते हैं, खूब खा लेते हैं। सत्संग में मैने कल दोपहर को खाना खा लिया। खाना बहुत स्वादिष्ट था। वैसे मैं एक पूड़ी खाता हूँ, पर दो खा गया। और भी खा गया।आप लोग जो प्रसाद लाते हैं वह भी खा गया। शाम को पेट भारी लगने लगा। अब मन यही करता था कि सत्संग से हट कर आराम करूँ। यह हादसा सबके साथ होता है, मेरे साथ ही नहीं।

गुरु महाराज कह रहे हैं कि अपनी इन्द्रियों को वश में करिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार- जिन इन्द्रियों के कारण होते हैं, उनको अपने वश में कीजिये। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि जिन्होंने अपने ऊपर विजय प्राप्त करनी है, मन को वश में करें, बुद्धि को वश में करें। बुद्धि को ईश्वर की कृपा से भीतर में आवाज़ होती है। आप जब कोई बुरा काम करने लगते हैं

तो भीतर से चेतना की आवाज़ आती है- 'यह बात मत करो '। परन्तु मन को आदत पड़ गयी है कि वह भीतर की आवाज़ सुनता ही नहीं। इसे अंग्रेजी में consciousness कहते हैं , हिंदी में इसे चेतना कहते हैं। उस चेतना की, consciousness की, हम चिंता नहीं करते, परवाह नहीं करते। इन्द्रियों में, मन में जो रस आता है, हम उसके अधीन हो जाते हैं। साधारणतः स्कूल में बच्चों को सिखाते हैं

" Think before you speak"- बोलने से पहले सोचो।

"Look before you leap" - छलांग लगाने से पहले देख लो।

ये बातें हमें बचपन में सिखाई गयी थीं। परन्तु अभी तक हम इन्हें अपना नहीं पाए हैं। हम अकारण ही बोलते रहते हैं, अपना मान दिखने के लिए। ' मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ। मैं सत्संगी हूँ।' आदि। बहुत कम लोग शांत रहते हैं।

गुरु महाराज ने कहा, ' आप जो साधना कर रहे हैं, अब बंद कर दीजिये।' आप इस बात को अच्छा नहीं समझेंगे कि अभ्यास बंद कर दें। पूजा बंद कर दें। पर करनी पड़ेगी। इन्द्रियों और मन को वश में करना कोई आसान काम नहीं है। योद्धाओं का काम है। अर्जुन तक नहीं कर पाया। लक्ष्मण नहीं कर पाया। साधारण बात नहीं है। इसके लिए, गुरु महाराज कहा करते थे, कि यदि एक जीवन भी लग जाये तो भी चिंता नहीं करें, पर प्रयास करें। मन बुद्धि के,आत्मा के अधीन हो जाये। इन्द्रियां मन के अधीन हो जाएँ। परन्तु व्यक्ति बोलता कुछ और है और भीतर में कुछ और है। व्यवहार कुछ और है। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता है कि वह दूसरे को मूर्ख बनाये, उसका शोषण करे।

" जेता सागर नीर भरा, तेते अवगुण हमारे "

हमारे चित्त पर इतने अहंकार भरे पड़े हैं और हम चाहें कि एक जन्म में मोक्ष मिल जाये, नहीं मिलेगी। कई जन्म लग सकते हैं।

" बहुत जनम बीते तुम बिन माधव, यह जनम तुम्हारे लेखे

कह रविदास आस लग जींवा चिरमय दरसनी पेखे।"

महापुरुष कहते हैं ' कई जनम बीत गए। हे भगवान् ! अब तो कृपा करें। मुझमें शक्ति नहीं है' । जब तक निर्मलता नहीं आएगी कुछ नहीं होगा। बड़े पाप हैं भीतर में। पुराने तो हैं ही, अब इस कम्प्यूटर में और नए अवगुण मत डालो।

वास्तव में पूजा यही है कि अपने अवगुणों को देखना और पूज्य गुरु महाराज के आदेशानुसार एक-एक अवगुण को लेकर उससे मुक्त होने की कोशिश करें। हमारे यहां की यही साधना है। हमारे यहां का अभ्यास यही है। आँखें बंद तो बच्चे भी कर लेते हैं। हमारे चित्त पर जो अवगुण अंकित हैं उन्हीं के कारण हमारा स्वाभाव बनता है और उन्हीं के कारण हम दैनिक कार्य करते हैं। विचार आदि उठाते हैं । परन्तु हम उन्हें व्यवहार में नहीं लाते ।

मानव जीवन का सच्चा सदुपयोग करें

ईश्वर ने मनुष्य को अपना जैसा बनाया है। अन्य जीवों की तुलना में इसमें विशेषता है कि इसमें विवेक है। वह अपने भविष्य को बनाने के लिए स्वतंत्र है एवं अतीत की मलीनता से मुक्त होने के लिए उसको ईश्वर ने शक्ति दी है । हमारा जीवन एक विस्तार के परिणाम-स्वरुप है -" We are the result of an evolution ") इस प्राणी-मनुष्य के आने का मुख्य महत्व यह है कि वह अपने इस जीवन काल में आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाये - मोक्ष को प्राप्त हो। सच्चिदानंद - जो परमात्मा का स्वरुप है - उस स्थिति में लय हो और उसका स्वरुप - सत-चित-आनंद - उसके व्यवहार में भी विकसित होने लगे।

सत चित आनंद उसके भी लक्षण हैं परन्तु दुर्भाग्यवश जिस मनुष्य को देखो वह अपने स्वरुप को भूला हुआ है। उसके अंदर शांति का भंडार है, आनंद और ज्ञान का भंडार है, परन्तु वह कहता है कि मेरे जैसा दुखी और कोई है ही नहीं। चाहे ग़रीब हो, अमीर हो, स्वस्थ हो अस्वस्थ हो, सब लोग अपने आपको दुःख से ग्रस्त पाते हैं। सब माया रुपी कीचड़ में फंसे हुए हैं। उनकी होश नहीं कि वो आप हैं क्या। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में परमपिता परमात्मा विराजमान हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में सुख का भण्डार है। ऐसा जीवन है जहाँ न जन्म-मरण है, न रोग-शोक है, मोक्ष की स्थिति है अपने भीतर। कैसी विचित्र माया है। तब व्यक्ति अपने स्वरूप को, अपने भण्डार को अपने भीतर में खोज क्यों नहीं पाता ?

जीवन का विस्तार होता रहता है, evolution होता रहता है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो उसके चित्त पर पिछले जन्मों के सहस्त्रों संस्कार अंकित होते हैं । वह इन्हीं संस्कारों, जिनको हम वृत्तियाँ कहते हैं, के अनुसार व्यवहार करता है। उसका कर्तव्य यह है कि वह इस शरीर में रहते हुए इन वृत्तियों से मुक्त हो जाये। यदि ऐसा नहीं होगा तो उस दूसरा जन्म लेना पड़ेगा या किसी और योनि में जाना पड़ेगा। जितने भी दार्शनिक हुए हैं, संत-सुधारक हुए हैं, सबने मनुष्य को सचेत करने के प्रयास किया हैं। परन्तु मनुष्य सचेत नहीं हो पाता। वह अपने

संस्कारों के कारण विवश है। उसका दोष नहीं है। पढ़े-लिखे व्यक्ति जो दर्शन जानते हैं वे यह भी जानते हैं कि धर्म क्या है, यह भी जानते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए, पर वे कर नहीं पाते। प्रत्येक व्यक्ति विवश है, वह चाहता है कि उसे सुख मिले, शांति मिले, ऐसा जीवन मिले जहाँ कभी जीना-मरना न हो, अमर जीवन हो, मोक्ष का जीवन हो। परन्तु वह यह तय नहीं कर पाता कि इसके लिए वह करे क्या? हम इस मनुष्य चोले में महान भाग्यशाली हैं। प्रत्येक जीव की विद्या यहीं से प्रारम्भ होती है। प्राचीन काल में इस तरह की शिक्षा बच्चों को दी जाती थी कि वह गुरुकुल में रहे। माता -पिता से अलग होकर गुरु की सेवा करे और गुरु से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करे। ये बातें अब ख़त्म हो गयी हैं।

सरस्वती पूजन का पवित्र त्यौहार इन्हीं दिनों (बसंत पंचमी) में होता है। यह त्यौहार भी इसी का प्रतीक है। हम प्रत्येक वर्ष सरस्वती जी की पूजा करते हैं। परन्तु हम इस पूजन की वास्तविकता का अनुभव नहीं करते और न ही जो लोग जानते हैं कि यह त्यौहार क्यों मनाया जाता है वे लोग उसके अर्थ को समझ कर उस रास्ते पर चलते हैं। वास्तव में विद्या का मतलब यही है कि मनुष्य अपने आप को पहचाने, अपने आप को जाने। प्रत्येक मनुष्य को जानना है कि वह कौन है । शंकराचार्य जी ने लोगों को प्रेरणा दी। उन्होंने लोगों को समझाया ' तत्त्वमसि ' अर्थात हे मनुष्य ! तुम तो वही हो जो ईश्वर है। तुम अपने आपको पहचानो ' know thyself जब मनुष्य अपने आपको पहचान लेता है, अपने भीतर के ख़ज़ाने को जान लेता है तो वह समझ लेता है कि वो तो स्वयं ब्रह्म है, परमात्मा का अंश है, स्वयं परमात्मा ही है।

इस स्थिति में तो वह हमेशा के लिए अमर हो जाता है। न तो उसको शारीरिक दुःख का ज्ञान होता है, न मानसिक दुःख रहता है, न बुद्धि का या अन्य किसी प्रकार का भौतिक रोग रहता है। वह पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है, आनंद-स्वरुप हो जाता है, आनंद में लय हो जाता है। समस्या तो यही है कि मनुष्य अपने आप को पहचाने कैसे ? इसके लिए कई पद्धत्तियाँ हैं, कई साधन हैं। जो भी साधन या पद्धति उसको अच्छी लगे अपनाना चाहिए। कई महापुरुष हुए हैं जिन्होंने साधन बतलाये हैं - वे सभी साधन ठीक हैं, कोई गलत नहीं हैं।

कोई लोग भक्ति के मार्ग को अपनाते हैं, वो ठीक हैं, कई लोग ज्ञान के मार्ग को अपनाते हैं, वो भी ठीक हैं। कई लोग कोई अन्य साधना करते हैं। साधन कोई गलत नहीं है। परन्तु मनुष्य को कुछ न कुछ करना चाहिए। हज़रत ईसा ने भी कहा है कि, ' ऐ मनुष्य ! तू अपने आप को पहचान कि तू कौन है। तू तो वही है जो परमात्मा है। ' यही हमारे वेद कहते हैं। यही उपनिषद आदि सदग्रन्थ कहते हैं।

पद्रहवीं शताब्दी में देश के कोने-कोने में परमात्मा की कृपा से अनेक संत हुए। पंजाब में ही नहीं, उत्तरी भारत में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी अनेक संत हुए। हम उनकी जीवनियों से परिचित नहीं हैं। उस समय कबीरदास जी हुए। पंजाब में गुरु नानकदेव हुए। महाराष्ट्र में भी बहुत से संत हुए। यह पद्रहवीं शताब्दी कुछ विशेष समय था। उस समय जुल्म भी बहुत था। ईश्वर की कृपा से देश के कोने-कोने में बहुत से संत हुए। सबने संत मत अर्थात राजयोग का प्रचार किया। व्यक्ति को साधना के लिए ज़रूरी नहीं कि वह परिवार को छोड़कर जंगलों में जाए, एकांत में बैठकर साधना करे। वह पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। उसके तीन मुख्य रूप हैं। किसी महापुरुष को ढूंढो जिसको उन्होंने गुरु, सतगुरु कहा। उसका संग करो, उसका स्मरण करो। और नाम पद्धति जो गुरु ने बतलायी है उस पद्धति को अपनाकर अपना जीवन सफल करो। संक्षेप में परमार्थ साधन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं - सतगुरु, सत्संग और सतनाम।

अब कठिनाई यह आती है कि सच्चा गुरु नहीं मिलता। महापुरुषों का कथन है कि यदि आपके पिछले शुभ कर्म हों और इस जीवन में कोशिश की जाये तो ईश्वर कृपा से एक सच्चे गुरु की सत्संगति प्राप्त हो सकती है। यहां ईश्वर कृपा को विशेष महत्व दिया गया है। जब सतगुरु मिल गए तो रास्ता सरल हो जाता है। सतगुरु में और ईश्वर में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। सतगुरु का रोम-रोम परमात्मा में समरस हुआ होता है। वह परमात्मा का ही रूप होता है। उसका आचरण बहुत ऊंचा होता है। उसका व्यवहार सात्विक तथा आत्मिक होता है। उसका संग ऐसा होता है जैसे सूरज के पास बैठने से प्रकाश की अनुभूति होती है, ऊष्मा की अनुभूति होती है। इसी तरह गुरु के पास रहने से स्नेह एवं शांति की अनुभूति होती है। उसका संग करना मतलब गुरु के समीप बैठना है। उस महापुरुष के पास बैठना उसका संग करना है। जैसे अग्नि के पास बैठने से अग्नि की ऊष्मा की अनुभूति होती है वैसे ही यदि वह सच्चा संत है तो उसके

पास बैठने से हमें मानसिक शांति मिलती है। हमारा मन स्थिर होने लगता है। हमें एक प्रकार की सुखानुभूति होती है जससे समाधि सी लग जाती है, आनंद की प्रतीति होती है।

व्यक्ति यदि सच्चा साधक है और उसका चित्त भी निर्मल है तो सच्चे गुरु के पास बैठने से उसकी शेष मलीनता, शेष बुराई भी जितनी उसके चित्त पर है धीरे-धीरे अपने आप धुल जाएगी। कोई कार्य करने की ज़रूरत नहीं। यदि सच्चा साधक ऐसे महापुरुष के पास रहता है और उसके आदेश के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है तो, विश्वास रखिये, कि थोड़े ही समय में उसमें ऐसा परिवर्तन आ जायेगा कि सारा संसार देखेगा कि इसको क्या हो गया। यह रीति कोई नवीन नहीं है। यह हमारी पुरातन संस्कृति का मात्र एक अंग है जिसको हमने भुला दिया है।

हर जिज्ञासु को इस खोज में रहना चाहिए कि कोई सच्चा संत मिल जाये जिसके पास बैठने पर और कुछ करने की ज़रूरत ही नहीं हो। गंगा-स्नान करने पर शीतलता की अनुभूति न हो यह असम्भव है। सच्चे संत के पास बैठकर यदि शांति नहीं मिलती तो या तो हमारा चित्त बहुत ही मलीन है या उस संत में कोई कमीं अवश्य है। जब सतगुरु मिल गया तो फिर करना होगा उसका सत्संग। यह सत्संग शुरू शुरू में समीप बैठकर होता है परन्तु बाद में सतगुरु और सच्चे सेवक का आंतरिक सम्बन्ध हो जाता है, प्रेम का नाता हो जाता है। गुरु शिष्य के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देता है, सब कुछ न्योछावर कर देता है। हम अपने कमरे में एक छोटा सा फोटो लगते हैं उसका जिसको हम प्यार करते हैं। यह भी उसी का प्रतीक है, एक प्रकार की स्मृति है, एक प्रकार की याद है, नाम है। इसी को स्मरण कहते हैं। यह भी नाम का एक रूप है।

यदि उस महापुरुष के साथ साधक का आत्मिक सम्बन्ध हो जाता है तो उसको (या यदि वह अपना शरीर छोड़ चुके हैं तो आत्मा के रूप में) याद करने से भी आत्मिक लाभ होता है। सतगुरु रास्ता बतलायेंगे, वो नाम देंगे-नाम या सतनाम। जिस नाम से वह साधना करने को कहें उसे सतनाम कहते हैं। नाम और नामी में कोई अन्तर नहीं है। जब सतगुरु नाम देता है वह यह नहीं कहता कि ' राम कहो, ॐ कहो, सतनाम कहो'। शर्त यह है कि सच्चे साधक का चित्त निर्मल हो और उस नाम को ग्रहण करने के लिए उसमें उत्सुकता

हो। सूरज बाहर प्रकाश दे रहा है, हम खिड़की बंद कर देते हैं। सूरज का कोई दोष नहीं कि अब प्रकाश नहीं हो रहा है। दोष हमारा है कि हमने खिड़की बंद कर ली है। इसीलिए आवश्यक है कि सच्चा गुरु भी हो और सच्चा साधक अपने ह्रदय की खिड़की को खोल कर रखे।

कई अभ्यासियों को पहली ही स्थिति में, पहली ही बार बैठने पर आत्मिक अनुभूति होनी शुरू हो जाती है। किसी को यह अनुभूति बाद में धीरे-धीरे प्राप्त होती है। यह जैसी किसी की स्थिति होती है वैसे उसे प्राप्त होती है। इसी को गुरु-प्रसादी या ईश्वर-प्रसादी कहते हैं। प्रसादी का मतलब है - गुरु की कृपा, गुरु की प्रसन्नता जो शिष्य पर होती है। गुरु शिष्य पर कई प्रकार से कृपा करता है। उधर शिष्य की सबसे उत्तम गुरु-सेवा है - गुरु के आदेश को शत-प्रतिशत मानना और उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना। गुरु कुछ नहीं चाहता। वह यही चाहता है कि शिष्य कुशलता पूर्वक रहे और इस प्रकार जीवन व्यतीत करने के लिए उसे कुछ बातें बता देता है, जैसे हमारी संस्कृति के कुछ यम और नियम हैं उनकी बातें बता देता है। जो सच्चा साधक होता है वह गुरु की प्रशंसा का पात्र होने की कोशिश करता है। वह उनके उपदेशों का पालन करता चलता है। जितनी पात्रता बढ़ती जाती है उतना ही अधिक प्रसाद शिष्य को गुरु से मिलता चलता है। एक समय ऐसा आ जाता है, जैसा कि कबीरदास जी कहते हैं - " तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ ।" नाम का अर्थ केवल शब्द नहीं है। नाम और नामी या नाम और गुरु - दोनों एक ही चीज़ हैं।

यह नाम एक बीज है। यही बीज अंकुरित होता है, पौधा बनता है, वृक्ष बनता है, पत्ते बनते हैं, शाखएँ बनती हैं, फल-फूल लगते हैं। नाम एक सीढ़ी है, नाम एक रास्ता है। शुरू में यह साधना कहलाता है। साधना की पूर्ती पर यही नाम, नामी से मिला देता है। सारी साधना-अवस्था को नाम ही कहते हैं । केवल नाम लेते रहना, राम, राम या ओम, आदि कहना काफ़ी नहीं है। काठ की माला जपने से कुछ फ़ायदा नहीं होगा, मन की माला जपनी चाहिए। धीरे-धीरे मन से, फिर बुद्धि से जाप करते हैं, फिर मौन जाप और फिर आत्मिक जाप करते हैं। इस अवस्था में केवल परमात्मा रह जाता है। उस आयाम में कौन नाम लेने वाला है, किस का नाम लिया जाता है - इसका भेद मिट जाता है और रह जाता है - केवल परमात्मा ही।

संत-सूफियों की संस्कृति और इसका प्रचार पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ और आजकल भी हो रहा है, यह पुरानी संस्कृति है, नई नहीं है। पढ़े-लिखे लोग जल्दी से किसी पर विश्वास नहीं करते और करना भी नहीं चाहिए। हमारे पूज्य दादा गुरु (लालाजी महाराज) फ़रमाया करते थे कि हम जब बाज़ार में सौदा खरीदने जाते हैं जो चीज़ जहां अच्छी मिलती है, सस्ती मिलती है, वहीं से लेते हैं। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि किसी को अपनाने से पहले वह उसकी खूब जाँच-पड़ताल करे। गुरु की पहले जाँच करना है कि उसका आचरण शुद्ध है, उसकी रहनी-सहनी शास्त्रों के अनुकूल है। क्या वह जैसा बाहर से बोलता है वैसा भीतर से भी है, उसका व्यवहार भी वैसा है या नहीं।? और मुख्य बात यह है कि उसके पास बैठने से हमारे ह्रदय में परिवर्तन आता है या नहीं ? हमें झूठ बोलने की आदत है, बुराई करने की आदत है, छोटी-मोटी चोरी करने की आदत है, तो उसके (गुरु के) पास बैठने से हमारी ये बुराइयां कम होती हैं या नहीं। उनकी सेवा में रहकर हम दुःख-सुख में अपने मन की अवस्था को स्थिर रख सकते हैं या नहीं। क्या हम दुःख में अत्यन्त दुखी और सुख में बेहद सुखी हो जाते हैं ? यदि ऐसा है तो यह तो साधारण मनुष्य की स्थिति है। ऐसा नहीं करना चाहिए कि यदि दो-चार व्यक्ति दीक्षा ले रहे हैं तो आप भी लाइन में खड़े हो जाएँ कि हमें भी नाम दे दें।

ऐसे महापुरुष की सेवा और सत्संग में आकर, भगवान कृष्ण जैसा कहते हैं, सुख-दुःख आने पर भी क्या हम सम-अवस्था में रह पाते हैं ? यदि हम विचलित होते हैं तो हमें सत्संग का लाभ नहीं पहुंचा। या तो हमारे में कमी है या हमारे गुरु में कमी है। व्यक्ति के लिए वेदों में, शास्त्रों में, उपनिषदों में जो सद्गुण बताये हैं यदि सत्संग में आकर वे गुण प्रकाशित नहीं होते तो सत्संग में आने का क्या फ़ायदा।? कोई मायने नहीं रखता।

जब सत्संग खत्म होता है तो हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि ' सबका भला करो भगवान' । इसका क्या मतलब है ? क्या यह प्रार्थना ईश्वर तक जाएगी ? यह प्रार्थना ईश्वर तक तभी जाएगी जब हम इस प्रार्थना को अपने व्यवहार में उतारेंगे। हमारा शरीर, हमारी आत्मा, हमारी बुद्धि, हमारी सम्पत्ति - जब सबके भले के लिए खर्च होगी, तब यह प्रार्थना स्वीकार होगी अन्यथा यह एक रिवाज़ मात्र है। प्रभु के ज़िम्मे है सबका भला करना पर यह हमारा भी कर्तव्य है। क्या हम सबका भला करते हैं - अपने व्यवहार में, वाणी में विचार में हाथ-पैरों ? यही तो गीता का उपदेश है, कर्म करने का सिद्धांत है। व्यक्ति को अपना सब कुछ

न्योछावर कर देना है, संसार को सुखी बनाने के लिए। संसार का सुख पहले, अपना सुख बाद में - तभी वह निस्वार्थी होगा, स्वार्थी नहीं जो केवल अपने ही सुख की बात सोचता है। भगवान कहते हैं अपने कर्म में स्वार्थ का त्याग करो। जब हम औरों का भला करेंगे तभी तो अपने स्वार्थ कम होंगे। यदि सारा विश्व ऐसा करे तो विश्व में शांति ही शांति हो जाये ।

इस वक्त क्या हो रहा है सब देख रहे हैं। आज तक ऐसी लड़ाई नहीं हुई। अखबारों की हेडलाइंस पढ़कर दिल काँप उठता है। इसके पीछे क्या है - निजी स्वार्थ, घोर लिप्सा और अहंकार। ख़ैर, साधकों को अपना जीवन संतों के उपदेश के अनुसार बनाना चाहिए। संतों का जीवन शास्त्रों के अनुसार होता, प्रतिकूल नहीं। कोई भी संत ईश्वर की सत्यता के प्रतिकूल नहीं जायेगा। इसलिए उसके उपदेश को मानना हमारा धर्म हो जाता है। परन्तु खेद है कि हम बातें तो बहुत सी करते हैं परन्तु हमारा व्यवहारिक जीवन उन आदर्शों के अनुरूप नहीं होता।

परमार्थी तो सर्वप्रथम यह प्रयास करे कि उसको कोई सच्चा गुरु मिल जाये जिससे उसे सही विद्या प्राप्त हो। यही सरस्वती जी की पूजा का प्रसाद या वरदान है। सच्चा ज्ञान यही है कि हम उनकी (गुरु की) सेवा करें और उनके बताये हुए रास्ते पर चलकर अपना जीवन सफल करें। यह सादा सा सिद्धांत ही संतमत है जिसको सेवक भी अपनाता आया है और इसे यदि आप भी अपनाएंगे तो आपको निश्चित ही लाभ होगा। इस रास्ते में ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह चाहे जिस महापुरुष के पास जाये, जिस उपनिषद या धर्मग्रंथ को पढ़े। वास्तव में यह रास्ता मौन का है। यहां कम से कम शब्दों का उपयोग किया जाता है। सभी गुरुजन यही कहते हैं कि कम बोलना चाहिए, कम खाना चाहिए और कम ही सोना चाहिए।

वास्तव में संतमत में सत्संग साधना की यह विद्या तो 'मौन' की है। पहले मन का मौन होता है ततपश्चात आत्मिक मौन होता है। वही हमारे जीवन का लक्ष्य है। आप जैसे साधना करते हैं, करिये। परमात्मा के जिस रूप को आप मानते हैं, जिसमें आपका विश्वास है, उसी के ध्यान में बैठें। फिर यह ख्याल करें कि आप परमात्मा के उस रूप के समीप बैठे हैं और उनकी कृपा उनके हृदय से निकलकर आपके शरीर में प्रवेश कर रही है। ईश्वर का जो नाम लेते हैं , मन ही मन में लेते रहिये। शरीर बिलकुल ढीला हो। जैसे खूँटी पर कपड़ा टंगा होता है।

जितना शरीर ढीला होगा उतनी ही आसानी से व्यक्ति साधना में आराम से जमता है, लीन होता है। शरीर भी ढीला हो, मन भी ढीला हो, बुद्धि में तर्क-वितर्क बिलकुल न हो। बस प्रगाढ़ निर्मल प्रेम का, श्रद्धा और समर्पण का भाव होना चाहिए कि हम ईश्वर प्रसादी ग्रहण कर रहे हैं। हमें उनकी कृपा-दृष्टि का आभास होने लगेगा ।

गुरुदेव सबका कल्याण करें। राम सन्देश : फरवरी, 1994

मौन साधना क्या है?

आदिकाल से जितने भी धर्म हुए हैं, महापुरुषों ने जितनी भी पूजा पद्धतियाँ अपनाने का आदेश दिया है, प्रायः उन सबका अंतिम चरण मौन ही है। प्रभु सत्य है। मौन-साधना के द्वारा हम उस सत्स्वरूप परमात्मा को अवसर देते हैं कि 'वह' हमारे रोम रोम में प्रवेश कर जायें अर्थात उस परमात्मा के साथ हमारी समीपता और संयोग हो जाये।

प्रगाढ़ निद्रा या सुषुप्ति में हमारा शरीर निष्क्रिय रहता है, मन की चंचलता यानी संकल्प-विकल्प नहीं होते, हमारी बुद्धि द्वंदों से रहित, द्वन्दों से मुक्त होती है। प्रगाढ़ निंद्रा जैसी स्थिति ही मौन का प्रथम चरण है।

सरल और सहज आसन में निश्चल शरीर, शांत मन और स्थिर बुद्धि से बैठने पर हल्केपन की ऐसी स्थिति आजायेगी मानो कोई कपड़ा खूँटी पर टंगा हो - वह अपने बल पर नहीं खड़ा होता। ऐसी स्थिति में, परमात्मा की कृपा की वृष्टि का भान होता है, इस वृष्टि से हमारा शरीर, मन व आत्मा सम-रस हो जाते हैं। ईश्वर तो अनन्त आनन्द स्वरुप हैं, हमारी दशा भी आनन्द रूप हो जाएगी। पर हमें सामान्यतः ऐसे आनन्द की अनुभूति क्यों नहीं होती ? इसका कारण मन की चंचलता है। मन की चंचलता को त्यागे बिना ईश्वर का सामीप्य नहीं मिल सकता ।

वास्तव में हम अपने मन का संग करते हैं, परमात्मा या गुरु का, या सत का संग नहीं करते। गुरु के या परमात्मा के संग में कोई विशेष अन्तर नहीं है। गुरु भी ईश्वर में लय

होकर आपकी सेवा में बैठता है। वह कुछ नहीं करता - उसके शरीर के रोम-रोम के द्वारा परम् पिता परमात्मा के प्रेम की किरणें चारों और फैलती हैं ।

गुरु न भी हो तब भी ईश्वर की कृपा सब पर हर समय एक जैसी बरसती रहती है। अन्तर केवल यह है कि गुरु का शरीर साधना करते-करते इतना निर्मल और संवेदनशील बन जाता है कि गुरु के शरीर द्वारा परमात्मा की कृपा की किरण -रश्मियाँ जो आप तक पहुँचती हैं वे कुछ अधिक तेज और वेग लिए हुई होती हैं, जैसे आतिशी शीशे पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो उसके नीचे रखा काला कपड़ा जल उठता है ।

गुरु है, तो ठीक है, अच्छा है। यदि गुरु नहीं हैं, तो भी आपका सीधा सम्पर्क प्रभु से हो सकता है। बस शर्त यही है कि व्यक्ति मन की चंचलता से मुक्त हो जाए और उसकी बुद्धि की चतुराई समाप्त हो जाये। इस स्थिति में परमात्मा के साथ समीपता प्रारम्भ हो जाती है। और इस कैफियत को आप बढ़ाते चले जायेंगे तो धीरे-धीरे एक दिन ऐसा आ जायेगा कि आप में और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। पर यह काम जल्दी का नहीं है, धैर्य का है। आत्मिक मौन में स्थिरता एक दिन में प्राप्त नहीं होती, इसमें समय लगता है। भले ही कई वर्ष लग जायें ।

मौन की अवस्था को स्थिर बनाने के लिए उपासना का त्याग नहीं करना चाहिए। मौन की साधना के लिए सबसे पहले मन को कोमल बनाना, संवेदनशील बनाना होगा ताकि प्रभु की और से जो प्रसादी आ रहीं है, साधक उसे ग्रहण कर सके। प्रभु के प्रति भक्ति, भावुकता - उपासना से और बढ़ेगी। सबसे अधिक महत्व सेवा का बढ़ता है। शुभ कर्म मौन साधना में सहायक होते हैं ।

उपासना के समय शुरू-शुरू में प्रभु की महिमा का गुणगान, स्तुति-वन्दना, आदि करना, भजन और पुस्तकें पढ़ना सहायक होते हैं। भक्ति किसी भी तरह की हो, किसी भी भाव की हो, चाहे प्रेमाभक्ति हो जैसी चैतन्य महाप्रभु करते थे। भक्ति-भाव में नृत्य करते-करते वे इतने भाव-विभोर हो जाते थे कि उनका तन-मन और उनकी समस्त चेतना भगवान से तदरूप हो जाती थी, ईश्वरमयी बन जाती थी। भक्ति की चरम-सीमा या अंतिम परिणति आत्मा के 'मौन' की दशा ही है ।

ध्यान में बैठते समय मन चंचलता करेगा, बुद्धि भी तर्क-वितर्क करेगी। इनसे मुक्त होने के लिए या तो प्रेम-भक्ति का सहारा लें या ज्ञान-साधना का। आप यदि ऐसा नहीं करेंगे तो न तो आपका मौन स्थिर हो पायेगा और नही आपको आनन्द की अनुभूति होगी।

मौन-साधना के समय कुछ सावधानियाँ बरतनीं आवश्यक है। जब मन में क्रोध हो, किसी के प्रति शत्रुता या बदले की भावना हो, कोई बुरे विचार आ रहे हों या हीन भावना सता रही हो तो मौन का अभ्यास न करें क्योकि ऐसा करने से इन बुराईयों को दृढ़ता मिलेगी। जब तक मन निर्मल न हो, जब तक मन इस प्रकार के विकारों से मुक्त न हो जाये, मौन साधना नहीं करनी चाहिए ।

इसी प्रकार, मौन साधना करने के पश्चात तुरन्त ही दुनियाँ के कामों में नहीं लग जाना चाहिए। पाँच-दस मिनिट एकांत में रहें। लोग साधना समाप्त होते ही बातों में लग जाते हैं। परिणाम यह होता है कि साधना में जो कुछ प्राप्ति हुई होती है, वह समाप्त हो जाती है ।

मौन साधना में बैठने से पूर्व हम उसके अधिकारी बनें। जब तक अधिकार नहीं बनता, भजन पढ़िए, भक्ति करिये, संतों की अमृत वाणी पढ़ें। सेवा करें और अपनी बुराइयाँ छोड़ें। जब योग्य बन जायें तब इस मौन साधना का श्री गणेश करें। इस मौन साधना के द्वारा ही आत्मा के दर्शन और परमात्मा से तदरूपता प्राप्त हो जाएगी। इसी कैफियत के लिए हमारी प्रार्थना में " ओम सहनाववतु " वाला मंत्र शामिल किया गया है जिसमें गुरु और शिष्य द्वारा साथ-साथ परम पिता परमेश्वर से विनती की गयी है कि ' दोनों की साथ-साथ रक्षा व पालन हो, दोनों साथ-साथ शक्ति प्राप्त करें, तेजोमयी विद्या प्राप्त करें, और अंततः अपनी दुइ मिटाकर, स्नेह-सूत्र में बंध कर एक जो जायें और परम् लय अवस्था को प्राप्त करें।"

इस मौन-साधना में कोई आशा या इच्छा लेकर नहीं बैठना चाहिए कि हमें प्रकाश की झलक मिले या शब्द सुनाई दे या गुरुदेव के दर्शन हों अथवा सांसारिक सुख मिल जायें, या सफलता मिल जाए, आदि ।

हमें तो मानो गंगा के प्रवाह में अपने आपको समर्पित कर देना है। प्रवाह जिधर भी ले जाये, उसी के साथ-साथ बढ़े चलें। कोई अवरोध नहीं करना है, कोई प्रयास नहीं करना है।

इस प्रकार होना है जैसे कि कलाकार के हाथों में पत्थर अपने आपको समर्पित कर देता है और कलाकार उसे एक सुन्दर मूर्ती के रूप में ढाल देता है। साधक को भी स्वयं को इसी प्रकार से उस महानतम कलाकार परमात्मा के हाथों में छोड़ देना चाहिए।

कुछ साधक केवल मौन साधना करते हैं किन्तु वे शिकायत करते हैं कि इसमें रूखापन रहता है, आनन्द नहीं आता। आनन्द नहीं आने का कारण पात्रता का न होना है। मौन साधना की पात्रता हासिल करने के लिए एक सरल युक्ति का अभ्यास करना उपयोगी सिद्ध हो सकता है और वह युक्ति है कि प्रतिक्रिया करने की आदत का त्याग करें। हम देखते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया करते हैं, सुनते हैं तो प्रतिक्रिया करते हैं, खाने में रस आता है तो उसकी प्रतिक्रिया करते हैं, कुछ सूंघते हैं या कुछ छूते हैं तो उसकी भी प्रतिक्रिया करते हैं। मन में संकल्प-विकल्प उठते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया करते हैं। जब तक इन प्रतिक्रियाओं का तांता नहीं टूटेगा, तब तक मौन साधन भी नहीं सधेगा ।

इसी प्रकार से कम बोलने का अभ्यास करने की आवश्यकता है। कम बोलने में वही व्यक्ति सफल होगा जो प्रतिक्रिया करने की आदत को छोड़ देगा। विवेक और वैराग की साधना भी आवश्यक है ।

महात्मा गौतम बुद्ध ने साढ़े छः वर्ष साधना की और अंत में उन्होंने यह निर्णय दिया कि भीतर व वाह्य में कोई प्रतिक्रिया न हो। यह अच्छा है, वह बुरा है - अर्थात जब तक विचार आते रहेंगे, सफलता नहीं मिलेगी क्योकि प्रत्येक विचार अपने आप में एक प्रतिक्रिया है। इसीलिए उन्होंने विचारों से रहित होने का, विचार-शून्य होने का यह साधन बताया है कि हम प्रतिक्रिया करने की वृत्ति छोड़ दें। बात बहुत छोटी सी लगती है परन्तु व्यवहार में ऐसा करने में बड़ी कठिनाई होगी। परन्तु अभ्यास करने से यह आदत छूट जावेगी।

उपनिषद भी यही बताते हैं - निर्द्वन्द अवस्था में स्थिर होना है। आत्म-विकास तभी होता है जब मन और बुद्धि दोनों स्थिर हो जाते हैं। आत्मिक मौन को ही वास्तविक मौन कहते हैं।

भक्त रैदास जी ने अपनी सुन्दर पदावली में अधिक बोलने का वर्णन करते हुए अंत में यही तत्व-ज्ञान दिया है कि जब साधक ' मगन ' अर्थात मौन हो जाता है तभी उसे ' परमनिधि ' प्राप्त हो पाती है। उनकी अमृत वाणी में कैसा सदुपदेश भरा है "-

तेरा जन काहे को बोले

तेरा जन काहे को बोले

बोलि बोलि अपनी भगति को खोले !! तेरा जन /////

बोलत बोलत बढ़े वियाधी, बोल अबोले जाई !

बोलै बोल अबोल कोप करै, बोल बोल को खाई !!

बोलै ज्ञान मान परि बोलै , बोलै वेद बड़ाई !

उरि में धरि धरि जब ही बोलै, तब ही मूल गँवाई !!

बोलि बोलि औरिहि समझावे, तब लगि समझ न भाई !

बोलि बोलि समझी जब बूझी, काल सहित सब खाई !!

बोलै गुरु अरु बोलै चेला , बोल बोल की परतीति आयी !

कह रैदास मगन भयो जबही, तबहि परम् निधि पाई !!

राम सन्देश मार्च १९९१

शांति की चाह हर व्यक्ति को होती है - पहले घर को शांतिमय स्वर्ग बनाना होगा

प्रत्येक व्यक्ति आंतरिक शांति चाहता है। जब व्यक्ति कहता है कि शांति, विशेषकर मन की या भीतर की शांति नहीं है तो इसका मतलब होता है कि वह किसी कठिनाई में है और यदि वह कठिनाई दूर हो जाये तो उसको भीतर का सुख प्राप्त हो जायेगा। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसको किसी प्रकार का दुःख न हो। कोई शारीरिक रोग से पीड़ित है, इस कारण वह कहता है कि मेरा शरीर स्वस्थ्य हो जाये तो मैं सुखी हो जाऊँगा। किसी बहिन का पति चला गया तो वह अशांत है, उसकी परेशानी कौन समझ सकता है? किसी का बच्चा घर से भाग गया, किसी के घर में तीन-चार लड़कियां हैं जिनकी शादी करना है और पैसा नहीं है, किसी को घाटा है, किसी के बच्चों की नौकरी नहीं है, किसी की आय कम है खर्चा ज़्यादा है इसलिए क़र्ज़ लेना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति कैसे सुखी रह सकते हैं, कैसे शांति रख सकते हैं? सब लोग किसी न किसी कारण से भीतर से दुखी हैं, अशांत है।

तो शांति कैसे मिले ? हम सत्संग में आये हैं इसी लालसा से कि वहां जायेंगे तो मन स्थिर रहेगा, वहां के वातावरण का अच्छा असर पड़ेगा, मन को सुख मिलेगा, शांति मिलेगी। परन्तु ऐसा हो नहीं पाता। होता भी होगा तो कुछ क्षणों के लिए। कुछ क्षणों के लिए आनंद मिलता होगा, शांति मिलती होगी। परन्तु जिस शांति की खोज में व्यक्ति है वह नहीं मिलती। मनुष्य का स्वभाव है कि वह किसी भी परिस्थिति में संतुष्ट नहीं रह सकता। वह भांति-भांति की इच्छाओं की, तृष्णाओं की, अग्नि में जलता रहता है। तो प्रश्न यह उठता है कि आखिर वह करे भी तो क्या करे ?

ज्ञानी कहता है कि शांति केवल अपनी आत्मा में है। जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो जाता, शांति नहीं मिल सकती। भक्त कहता है कि अपना अहंकार अपने इष्टदेव को समर्पण कर दो तब शांति ही शांति है। दोनों का भाव एक ही है। संसार में आये हैं - दुःख ही दुःख मिलेगा। कुछ देर के लिए वस्तु विशेष मिली। उससे आपको संतुष्टि हुई, सुख

मिला। फिर वही हालत मन की, मन फिर अशांत। यदि संसार के सुखों से शांति मिलती तो जितने धनाढ्य लोग हैं वो कभी अशांत नहीं होते। वे लोग तो हमसे अधिक अशांत हैं । ये बड़े-बड़े मकान-कोठियां, मोटर गाड़ियां, तथा संसार के अन्य सुख शांति नहीं दे सकते। कुछ ऐसे लोग हैं जिनके पास इतना पैसा है कि वो नहीं जानते कि उसको खर्च किस प्रकार से किया जाये परन्तु मन ही मन वो भी असंतुष्ट हैं।

शांति क्या है वह कैसे प्राप्त हो ?

सच्ची शांति की खोज में बहुत कम लोग हैं। हम संसार की वस्तुओं की प्राप्ति हेतु अधिक ज़ोर देते हैं। हम सब संसार की वस्तुओं की प्राप्ति हेतु अधिक ज़ोर देते हैं। सोचते हैं कि वो वस्तु मिल जाएगी तो बड़े सुखी और शांत हो जायेंगे। हमारा लड़का नौकरी कर लेगा, हमारी लड़की ससुराल चली जाएगी, हमारा बड़ा मकान बन जायेगा तब हमें शांति मिल जाएगी। परन्तु ऐसा होता नहीं। सच्ची शांति क्या है ? सचमुच शांत व्यक्ति, उत्तेजना में रहते हुए, संसारी कष्टों में रहते हुए भी सब दुखों से अप्रभावित रहेगा। किसी भी प्रकार की उत्तेजना उसको प्रभावित न कर पाए - ऐसी स्थिति कौन सी है। उसकी खोज के लिए इतने लोग हैं। संसार में छोड़िये सत्संग में कितने लोग हैं जो सच्ची शांति के अभिलाषी हैं ?

सच्ची शांति आत्मा में है। हमें जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता व हम उसमें स्थित नहीं होते, तब तक हम कभी भी शांत नहीं रह सकते। तो ये कैसे हो ? इसके लिए तो जो व्यक्ति शांति चाहता है उसको तो भगवान श्री राम की तरह सब कुछ न्योछावर करना होगा। संसार को छोड़ना होगा, मन से छोड़ना होगा। पर संसार को छोड़ना कैसे होगा ?

ब्रह्मज्ञानी सदा निर्लेप जैसे जल से कमल अलेप

पानी में कमल होता है उस पर पानी के छींटे टिकते नहीं हैं। चारों तरफ़ पानी ही पानी है पर कमल उससे ऊंचा उठा रहता है । इसी प्रकार हर सच्चा साधक संसार में रहते हुए भी उसके दुखों से प्रभावित नहीं होता। वो अपने स्वरुप में स्थिर होकर आनंद स्वरुप होता है, शांत स्वरुप होता है। परन्तु यह स्थिति प्राप्त कैसे हो ? यह बात चंद दिनों में नहीं होने वाली। इस हेतु तो

ज़िंदगी की बाज़ी लगानी पड़ती है। मगर एक सामान्य व्यक्ति को क्या करना होगा जिससे उसको शांति मिले।? वह भी तो शांति चाहता है ।

पुरुषार्थ, कर्म और संतोष का भाव

महापुरुष कहते हैं कि कठिनाइयों को दूर करने हेतु पुरुषार्थ करना हमारा धर्म है। लोगबाग समझते हैं कि दुःख-सुख तो ईश्वर देते हैं। ईश्वर भी देते हैं, परन्तु परन्तु वो भी हमारे संस्कारों के, हमारे पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार देते हैं । पुरुषार्थ करना होगा। पुरुषार्थ के अर्थ हैं कि इस समय हमारी जो परिस्थिति है, दुःख-सुख हैं, उनसे हमें ऊपर उठने का प्रयास करना होगा। उनकी निवृति के यदि हमारे भरसक प्रयास सफल नहीं होते तो हमें ईश्वर के चरणों में समर्पण कर देना चाहिए कि - " हे प्रभु ! तेरी यही मर्ज़ी है तो मैं इसी में राज़ी हूँ। तू जैसा चाहता है, मैं उसी में संतुष्ट हूँ।"

जब तक ऐसा राज़ी-ब-रज़ा वाला भाव नहीं अपनाएंगे, सामान्य व्यक्ति को भीतर में सुख नहीं मिलेगा। आत्म साक्षात्कार तो लाखों करोड़ों में कोई एकाध करता है। परन्तु सामान्य व्यक्ति को तो पुरुषार्थ करना ही होगा। उसे प्रमादी नहीं होना चाहिए। सफलता-असफलता ईश्वर के चरणों में अर्पित करनी चाहिए। प्रयास करने पर भी, पुरुषार्थ करने पर भी यदि हमें सफलता नहीं मिलती तो अपने आपको ईश्वर के चरणों में समर्पण करना चाहिए तो उससे उतपन्न संतोष में भी हमें बहुत शांति मिलेगी।

सामान्यतः यही देखा जाता है कि हम पारिवारिक व सामाजिक सम्मान प्राप्त करने के लिए ही यत्न करते रहते हैं, परन्तु सफलता नहीं मिलती। प्रत्येक व्यक्ति दुखी है। हमें ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा को मिलाना है। इसके लिए पहला साधन संतोष का किया करें और फिर समर्पण का किया करें। इससे शक्ति प्राप्त होगी। हमें सत्संग के द्वारा अधिकाधिक महापुरुषों का सत्संग करना चाहिए। उनके जीवन से हमें प्रेरणा मिलती है। उस प्रेरणा के परिणाम स्वरुप ही मन थोड़े देर के लिए शांत हो जाता है। विश्वास मिल जाता है कि वर्तमान परिस्थितियां वहीं की रहीं परन्तु हमारे भाव में परिवर्तन आता जाता है।

वास्तविक शांति

परन्तु सच्चे जिज्ञासु को वास्तविक शांति हेतु आत्म साक्षात्कार करने का यत्न करना होगा, जब तक वह नहीं हो जाता, सच्ची शांति नहीं नहीं मिलेगी। इसके लिए जो अभ्यास बताया गया है, वह अभ्यास अधिकाधिक करना चाहिए। वैसे तो वेदांती कहते हैं 'तत्वमसि ' अर्थात तुम तो ब्रह्म हो, आत्मा हो, परमात्मा के स्वरुप हो, सो तो ठीक ही है। तुम शांति के साधक स्वयं ही हो। भ्रम या अहंकार के कारण तुम यह समझ रहे हो कि तुम शरीर हो, मन हो, बुद्धि हो, आदि। इन आवरणों को तुम स्वयं का अपना आपा समझ लेते हो। ऐसा नहीं है, ये सब तो भिन्न-भिन्न प्रकार के आवरण हैं। पर सिद्धांत की ऐसी बातों से दो चार मिनिट को ही आनंद मिलता है। परन्तु जब तक वैराग द्वारा, अभ्यास द्वारा, आत्म स्थिति प्राप्त नहीं कर लेते तब तक शांति नहीं मिल सकती।

आये दिन, घडी-घडी, हम छोटी -छोटी बातों से उत्तेजित हो जाते हैं। मन के स्थान पर आकर सुख से भी प्रभावित होकर हम चंचल हो जाते हैं। यह सभी मन की साधना है। यह सब अपनी सामान्य, बाहरी शिक्षा या विद्या की साधना है। हम जब तक पराविद्या का साधन नहीं करेंगे - (प्रेम भक्ति द्वारा चाहे ज्ञान द्वारा) तब तक सच्ची शांति नहीं मिल सकती। हम जितने साधन करते हैं उन सबका फल तो अवश्य मिलता है पर मंज़िल अभी दूर है। मंज़िल तो बड़ी दूर है पर समझ लेना चाहिए कि हमारा लक्ष्य वही है। वही हमारा सच्चा गुरु है, सच्चा परमात्मा है। यही हमारा वास्तविक रूप है ।

प्रमाद और अहंकार की बाधाएँ

इस रास्ते पर प्रमाद यानी आलस्य बहुत बाधा डालता है। इस पर विजय पाने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए, पुरुषार्थ करना चाहिए। अभ्यास यही करना चाहिए कि हम अपने आपको पहिचान लें व अपने स्वरुप में निरन्तर स्थित रह सकें। थोड़ी देर के लिए भी हमें सफलता मिले तो उससे भी बड़ा लाभ मिलता है। परन्तु लक्ष्य हमारा भी यही है कि हम अपने

स्वरुप को पहिचानें और उसमें हमारी स्थिरता बनी रहे। इसी में सच्ची शांति है। हमारे जो सच्चे जिज्ञासु हैं, शिक्षक हैं, जिनके जिम्मे उपदेश देने का दायित्व है - पूज्य गुरु महाराज के शब्दों में - उनको चाहिए कि दूसरों को उपदेश देने से पहले स्वयं अधिकारी बनें अर्थात आत्मा की समीपता, गुरु के चरणों की समीपता प्राप्त करें तभी दूसरे भाइयों पर आपके संग का प्रभाव पड़ेगा।

प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए, गंभीरता से सोचना चाहिए कि हमें आत्मा की अनुभूति क्यों नहीं होती। इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि हम सब अपने अहंकार के वश कार्य कर रहे हैं। साधना में भी अहंकार है जबकि आनी चाहिए दीनता। दीनता का मतलब है कि जिनको हमने अपनाया है उनके चरणों में हम अपना सर्वस्व अर्पण कर दें। यह भाव बना रहे कि यह शरीर भी तेरा है, मन भी तेरा है, बुद्धि भी तेरी है। जब मेरा कुछ नहीं है तो सब कुछ अपना हो जाता है। इस वक्त हमारी धारणा यह है कि सब मेरा ही मेरा है। कोई स्थूल अहंकार में फंसा है तो कोई सूक्ष्म अहंकार में फंसा है। परन्तु हम सब हैं अहंकार में।

महापुरुष कहते हैं कि ऐसा अहं-रहित भाव अपनाना बड़ा सरल है। परन्तु सरल होते हुए भी यह हमारे लिए कठिन होता जा रहा है। इसके लिए व्याकुलता की आवश्यकता है। विरह चाहिए, वैराग्य चाहिए, त्याग चाहिए। हमारे मन के भीतर जो भिन्न-भिन्न प्रकार की मलीनता है उसको त्यागना है, धो डालना है। साक्षात्कार करने से पहले गंगास्नान करना है, निर्मल होना है। कुछ लोग कहते हैं कि हम चाहे कितने पतित हों, कितने ही अपवित्र हों परन्तु जब हम परमात्मा से सच्चा प्रेम करते हैं, तो मलीनता धुल जायेगी। परन्तु इसके लिए हम कुछ करें तो सही।

ऐसे प्रेम में विरह होनी चाहिए, व्याकुलता होनी चाहिए। तब फिर हमें आभास होगा कि वो आत्मा दूर नहीं है, हमारे पास ही है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में है। हम पर जो आवरण हैं उनको उतारना होगा, दूर करना होगा। हमारे यहां का रास्ता भक्ति का रास्ता है, प्रेम का रास्ता है। प्रेम से ही आत्मा का साक्षात्कार धीरे-धीरे होने लगता है। मगर हम श्रद्धा और विश्वास के साथ-साथ अपने को अधिकारी बनाते चलें। गुरु से हम स्थूल रूप से फ़ैज़ या कृपा और ईश्वरीय प्रेम की प्रसादी लेते हैं। दोनों प्रसादी लेनी होंगी। एक से भी काम चल जाता है

मगर सबका नहीं। जिसके संस्कार अच्छे हैं उसका एक से काम चल जाता है परन्तु देखने में आया है कि ऐसा होता नहीं है। इतिहास भी बताता है और कई महापुरुष भी बताते हैं।

ये वासनाएं कभी ख़त्म नहीं होतीं । पिछले संस्कार रह जाते हैं। उसके लिए जो भी प्राप्ति होती है उसे आत्मा का धन्यवाद करते हुए ग्रहण करें और साथ-साथ ही अपने पुरुषार्थ की मेहनत भी सतत करते रहना चाहिए। ।।।तब प्राप्त होने लगेगी शांति, सच्ची और स्थायी शांति

परिवार की शांति में ही स्वर्ग है

यह भाइयों की आम शिकायत रहती है कि घर में शांति नहीं रह पाती। शांति प्राप्त करने के लिए हमें अपने चौबीसो घंटों के व्यवहार पर ध्यान देना होगा। हम दिन रात जिनके संपर्क में रहते हैं उनसे अगर हमारा व्यवहार प्रेममय रहेगा तो शांति प्राप्त करने में बहुत सहूलियत होगी। इसके विपरीत यदि हम किसी से लड़ाई-झगड़ा या वाद-विवाद कर लेंगे तो इसका हमारे मन पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। तब संध्या-वंदना में भी मन नहीं लगेगा, मन चंचल रहेगा। यदि आपका दिन शांतिमय बीता हो,और प्रभु की याद भी बनी रहे तो आप पाएंगे कि संध्या में शांति और आनंद का अनुभव होता है।

हम अधिकाधिक अपने परिवार के संपर्क में रहते हैं। इसलिए परिवार में शांति और प्रेममय वातावरण बनाये रखने का प्रयास करें। पति-पत्नी हर परिवार में भिन्न-भिन्न विचारों वाले मिलते हैं। विचारों में सामंजस्य बहुत कम मिलता है और टकराव हो जाता है। भाइयों तथा बहनों को एक दूसरे के विचारों को समझने के लिए सहयोग करने की नितांत आवश्यकता है। बिना इसके पारिवारिक शांति नहीं हो सकती। आज का सामाजिक वातावरण हमारी पुरानी संस्कृति पर बहुत गहरा आघात कर रहा है। बहनों में तरह-तरह की क्रांति आ रही है। समान अधिकार का नारा जो आज की सभ्यता ने लगाया है वह भी पारिवारिक कलह के लिए जिम्मेदार है। चाहिए तो यह था कि हम सभी (पति-पत्नी) अपने अधिकार की बात भूलकर एक

दूसरे के प्रति कर्तव्य की भावना को लेकर प्रेम और सेवा से जीवन-यापन करें जो शांति के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, ज़रूरी है, जिससे हर घर स्वर्ग बन जाये।

ऐसी स्थिति के लिए पुरुष भी दोषी हैं। पुरुष-वर्ग बहिनों को हीन दृष्टि से देखता है और समझता है कि पत्नी मेरी दासी है। यह सोचना सर्वथा उचित नहीं है, वह तो आपकी जीवन-संगिनी है, आपकी सहचरी है। उसकी ख़ुशी से ही आप खुश रह सकते हैं। बहनें हमारी इतनी सेवा करती हैं कि हम उसका बदला नहीं कर सकते। हमें तो उनका आभारी होना चाहिए। बहनों को भी बिना बदले की भावना के पति के प्रति अपना कर्तव्य निभाना चाहिए।

बहनों का क्या कर्तव्य होना चाहिए ?

इस बात के लिए श्रीकृष्ण जी की पत्नी सत्यभामा जी तथा द्रोपदी जी के निम्नलिखित प्रसंग मार्गदर्शक भी हैं और प्रेरक भी -

एक बार सत्यभामाजी ने द्रौपदी जी से पूछा - " सखी तुम अपने पांचों पतियों को किस प्रकार संतुष्ट रखती हो। वे तुम पर कभी क्रोध नहीं करते वे सबके सब तुम्हारे वश में रहते हैं। क्या इसके लिए तुमने कोई विशेष व्रत, तप या जप किया है? किसी मन्त्र, अंजन या जड़ी बूटी आदि का सहारा लिया है तुम मुझे भी ऐसा कोई उपाय या जादू टोना बतलाओ जिससे मैं भी उनको वश में कर सकूं। "

द्रौपदी ने उत्तर दिया-" बहिन, तुम यह क्या पूछ रही हो ? क्या कभी पतिव्रता स्त्री को अपने पति को वश में करना चाहिए ? यह तो स्त्रियों के ओछेपन का सूचक है। कि वे अपने पति को वश में करना चाहें। तुम बुद्धमती हो, श्रीकृष्ण की प्यारी हो, तुम्हारे मुँह से ऐसा प्रश्न शोभा नहीं देता। देखो बहन, मैं तुम्हें एक बड़े रहस्य की बात बताती हूँ। जब पति को यह मालूम होता है कि मेरी स्त्री मन्त्र-तंत्र के द्वारा मुझे अपने वश में करना चाहती है तब वह उससे घबराने लगता है, और जैसे लोग सांप के घर में रहते हैं, कुछ वैसे ही चिंतित हो जाता है। जब पति चिंतित हो गया, तब घर वालों को शांति और सुख कैसे मिल सकता है ? इसलिए मंत्र-तंत्र से पति को वश में करने की चेष्टा बहुत बुरी बात है। उससे पति वश में तो नहीं होता,

बुराई पैदा हो जाती है। इसलिए पति को वश में करने के लिए कदापि ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। बहन, पति को प्रसन्न रखना और स्वयं उसके वश में हो जाना ही उन्हें अपने वश में रखने का सच्चा उपाय है।"

सत्यभामा जी ने फिर पूछा-" तो इसके लिए आपको पांच-पांच पुरुषों को वश में रखने में सफलता कैसे मिली ? कृपया यह तो बताओ। द्रौपदी ने सहज भाव से समझाया कि मैं अहंकार, क्रोध, कामना, आदि दुष्ट भावों से बचकर पवित्रता के साथ पांडवों की सेवा करती हूँ। बुरी जगह पर नहीं बैठती, दुराचारिणी स्त्रियों से कभी बात नहीं करती हूँ। स्वार्थ के दाव-पेंच या कोई चाल नहीं चलती। मैं किसी अन्य पुरुष के रूप, गुण, अवस्था, सज-धज आदि से आकर्षित नहीं होती। घर की सारी सामिग्रीयो को साफ सुथरा रखती हूँ। स्वछता और पवित्रता के साथ भोजन बना कर ढीक समय पर खिलाती हूँ खाती हूँ।

पति की रुचि के अनुसार काम करती हूँ। न बहुत बहस करती हूँ न कभी झुंझलाती हूँ। तुनक कर कड़वी बात तो किसी से कभी नहीं कहती हूँ। वो जिस वस्तु को पसंद नहीं करते उसे मैं भी पसंद नहीं करती। उनकी हर बात मानती हूँ। उनका जैसे में हित हो, वे जैसे प्रसन्न हों वही मेरा व्रत है। अच्छाई के भाव को कभी नहीं छोड़ती। भला कौन पतिव्रता अपने पति का अप्रिय करना चाहेगी ? मैं उन्हें हीं अथवा दोष दृष्टि से कभी नहीं देखती। जो काम करती हूँ, लगन से करती हूँ।

पति ही स्त्री का देवता है और एकमात्र गति है। उसके वश में हो जाना ही उसे वश में करने का सच्चा उपाय है। इतना वश में हो जाना चाहिए कि वश में करने की याद ही न रहे। स्त्री के लिए पति के समान कोई देवता नहीं है। पति की प्रसन्नता से स्त्री के सब मनोरथ पूरे हो जाते हैं। पति के प्रसाद से ही स्त्री के सब मनोरथ पूरे होते जाते हैं। पति के क्रोध से उसकी सब मनोकामनाएं निष्फल हो जाती हैं। पति के प्रसाद से ही स्त्री को लौकिक, पारलौकिक और परमार्थिक आनंद प्राप्त होता है।

आप या आजकल की आधुनिक स्त्रियां भले ही इन बातों को न मानें या न कर पाएं, परन्तु सत्य तो यही है कि सत्यभामा और द्रौपदी की उपरोक्त वार्ता नारी के कर्तव्यों पर पूरी तरह प्रकाश डालती है तथा घर में शांति बनाये रखने का एक सरल, सुन्दर साधन बताती है।

जिस घर में बहनों का आचरण ऐसा होगा, उनका दुराचारी और दुष्ट पति भी उनके वश में हो जायेगा। अपने प्रेममय व्यवहार से ही हम किसी के मन को जीत सकते हैं। इसी तरह भाइयों को भी अपने व्यवहार में कोमलता, प्रेम और सौजन्यता रखनी चाहिए। ऐसा करने से घर स्वर्ग हो जायेगा और मन में सच्ची शांति उतरेगी।

गुरुदेव हमको शक्ति दें कि हम ऐसा प्रेममय जीवन जी सकें और ऐसे शांत, स्नेहमय वातावरण में रहते हुए जीवन के मुख्य आध्यात्मिक उद्देश्य को पा सकें ।

राम सन्देश : जनवरी-फरवरी २००६

संतों की महिमा और हमारे गुरुजन

हमारी पुण्यभूमि की एक विलक्षण विशेषता यह है कि इस पवित्र धरती पर जितने सारे धर्मावतारों, मत-प्रवर्तकों, संतों और भक्तों ने अपनी ईश्वर-प्रेम में सरोबोर जीवन लीला की है, सम्भवतः सारे विश्व भर में कहीं भी इतनी आधात्मिक विभूतियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। शायद इसीलिए भारत को ' देवभूमि' कहा गया है। पद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में तो संत-भक्तों की ऐसी बाढ़ सी आयी कि सारा देश ही भक्ति-आंदोलन से आप्लावित हो गया और दिशा-दिशा में संतवाणी की भावभीनी गूँज सुनाई देने लगी। उन्हीं महापुरुषों में भक्त रैदास (रविदास जी) का अपना विशेष स्थान है।

रविदास जी जूते बनाने का काम करते थे और चमड़ा भिगोने के लिए एक मिटटी का पात्र जल भर कर रख लेते थे। राजा पीपा जी उनके भक्त थे। राजा पीपा पर रविदास जी की विशेष कृपा उमड़ी और उन्होंने उनसे कहा कि तुम यह पानी प्रसाद के रूप में पी लो। राजा को घृणा का आभास हुआ उन्होंने वह पानी अपनर मुख में डालने के बजाय अपनर वस्त्रों पर लुढ़का लिया।

राजा ने घर आकर अपना चोग़ा (वस्त्र) धोबी को धोने के लिए दे दिया। धोबी ने देखा कि दाग़ सहज नहीं छूट रहे हैं, कुछ मीठी वस्तु चिपकती सी लगती है, अतः उसने उन्हें चाट-चाट कर सफ़ाई करनी शुरू कर दी। सोचने लगा कि चोग़ा इतना निर्मल और उज्ज्वल धोकर भेजूं कि राजा नाराज़ न हों। जितना वह उस उस चोग़े को चाटता, उतना ही उसके भीतर

में परिवर्तन होता जाता। वह रविदास जी के मिटटी के कुंडे का पानी चाटकर निर्मल हो गए और पूर्ण साधु बन गए।

राजा को पता चला तो उसने साधु को बुलवाया। धोबी ने सारी बात कह सुनाई। राजा को वैराग्य हो गया। उसने राज-पाट सब कुछ त्याग दिया और पुनः रविदास जी के चरणों में गए और उनसे भीख मांगी कि वे उसे जूतों का पानी पुनः।पिला दें। रविदास जी बोले कि, " वह अवसर तो चला गया। एक क्षण होता है जब जिज्ञासु अपना पात्र साफ़ करके उमंग के साथ चरणों में जाता है और गुरु भी खुश हों, तो ये दोनों बातें मिलकर जिज्ञासु का काम बन जाता है। अब तुम महनत करो। " राजा ने सब कुछ त्याग ही दिया था, फ़क़ीर बन गए। मेहनत करके बड़ी उच्च पदवी पर पहुंचे। असर तो हुआ परन्तु जो तुरंत असर होने वाला था वह नहीं हो सका। बाद में मेहनत करनी पड़ी और वे भक्त पीपा के नाम से मशहूर हुए। आपकी वाणी गुरु ग्रंथ साहब में भी पाई जाती है।

इस प्रकार के संतों की महिमा वर्णनातीत है। भक्त-कवि अमीर खुसरो अपने पीर साहब, हज़रत मोईनुद्दीन चिश्ती के दर्शनों के लिए जा रहे हैं, साथ में बड़ा भारी क़ाफ़िला है जिस पर लाखों-करोड़ों रूपये का सामान लदा है। रास्ते में हज़रत को क़व्वाल मिलते हैं। खुसरो पूछते हैं कि, " पीर साहब से आपको क्या बख्शीस मिली, कुछ बताइये, उन्होंने आपको क्या प्रसादी दी?" क़व्वाल पैसे के पीर होते हैं।, ईश्वर पूजा के नहीं। वह कहते हैं कि, " साहब क्या कहें, लड़की की शादी है, हमने हज़रत से भिक्षा मांगी, उन्होंने हमें टूटे जूते दे दिए हैं। उधर ख़ुसरो उत्सुकता और व्याकुलता से कहते हैं कि, " ये जूते मुझे दे दो।" उन्होंने जूते लेकर अपने सिर पर रख लिए और कहा कि, " यह सारे क़ाफ़िले का सामान हाज़िर है, जितना चाहे आप ले लीजिये। आपका बहुत अहसान है मुझ पर कि आपके द्वारा मुझे मेरे पीर के जूते मिल सके।" यह तो सच्चा जिज्ञासु ही जनता है कि संत की कृपा, संत की वस्तु, संत की प्रसादी का क्या महत्व है।

गुरु अंगददेव जी वैष्णों देवी की यात्रा पर गए हैं। रास्ते में पता चला कि एक महान संत यहां रहते हैं। उन्होंने अपने मित्र से कहा कि, " आप आगे बढ़ो, उन संत के दर्शन करके मैं भी पीछे-पीछे आता हूँ।" अमीर-ज़ादे हैं, घोड़े पर सवार थे, घोड़े पर ही गए। गुरु नानक

देव जी के घर पर पहुंचे। रास्ते मैं गुरुदेव मिले। अंगदेवजी ने पूछा कि, " गुरुदेव कहाँ रहते हैं।" गुरुदेव कहते हैं, " चलो, हम बताते हैं।" अंगददेव जी घोड़े पर सवार हैं और गुरुदेव लगाम पकड़ कर आगे-आगे चलते हैं। आगे जाकर कहते हैं, "आप यहीं ठहरो" और स्वयं मकान के पिछले दरवाज़े से अंदर चले गए। अंगदेव जी ने द्वार खोला तो विस्मय में पड़ जाते हैं, यह तो वही संत बैठे हैं। कैसी महानता है, मुझे घोड़े पर बैठा रहने दिया और खुद लगाम पकड़े-पकड़े पैदल चलते रहे। बहुत लज्जित हुए। बैठ गए।

गुरु नानकदेव जी ने पूछा, " आपका क्या नाम है ?" वह तो प्रतीक्षा में ही थे कि कब यह "मेरी मुराद" मेरे पास आता है। नाम बताया कि, "मेरा नाम है "लैना"। (लैना का मतलब है किसी से कुछ लेना है।) तो गुरुदेव कहते हैं, " हमने देना है।" यही पहला मिलन है और इसी में सब कुछ दे दिया। अपने साथ खेतों में ले गए हैं। गुरु नानकदेव जी पहले खेती किया करते थे। खेती काटी है, घास की गठरी बाँधी और उस बरखुरदार से कहा है कि इसे उठाकर घर ले चलो। घास में पानी है, उस रईसज़ादे ने कीमती रेशमी अचकन पहना हुआ है। गुरु माता कह रही हैं " यह आप क्या अन्याय कर रहे हैं। सारा कींचड़ बच्चे के कपड़ों पर लग रहा है।" गुरुदेव कह रहे हैं - " यह गठरी घास की नहीं है, यह तो विश्व का भार इसके सिर पर रखा जा रहा है।, इसे जगत की सेवा करनी है । "

हमारे पूज्यनीय गुरुजन

यह है संत महिमा। यह तर्क से, व्याकरण से नहीं समझी जा सकती। यह तो परमात्मा की कृपा से किसी को अनुभव हो जाये तो वही समझ सकता है, अन्यथा हम कह सकते हैं की ये तो किस्से-कहानियां हैं। एक बालक दस-बारह साल का बारिश में भीगता हुआ आया है। बड़ी आंधी और तूफ़ान है। एक मौलवी साहब के कमरे के सामने से गुज़र कर जा रहा है। उन्होंने पूछा, " अरे नन्हे, इस ठंड की वारिश में इस तरह आना।" जाओ, कपड़े बदल कर आओ। मैं अंगीठी जलाता हूँ।" बालक इन शब्दों से प्रभावित हुआ। वह तुरंत ही कपड़े बदल कर बापस आ गया, अंगीठी जली हुई थी, मौलवी साहब ने अपनी रज़ाई बालक को उढ़ा दी। वह बालक कहता है कि रज़ाई ओढ़ते ही भीतर में न जाने क्या होने लगा। इतना आनंद जीवन में कभी अनुभव नहीं किया था। वह बालक कौन था ? वह थे हमारे दादा गुरुदेव, पूज्य लाला जी,

महात्मा श्री रामचंद्र जी महाराज। वह मौलवी साहब ही बाद में उनके गुरु बने। उन्होंने उसी दिन सब कुछ उस बालक, हमारे दादागुरु लालाजी महाराज को प्रदान कर दिया।

यह किसकी समझ में आ सकता है। २० साल की आयु में मौलाना साहब ने पूज्य लालाजी महाराज को पूर्ण गुरु पदवी प्रदान कर दी थी। बीस-इक्कीस साल की आयु क्या होती है ? उसमें ही सब कुछ इज़ाज़तें दे दीं। जो कुछ उनके पास था, सब कुछ लालाजी को दे दिया, और कहा कि " जाओ, इसका विस्तार करो । जितनी अधिक सेवा करोगे, उतना ही अधिक तुम्हे लाभ होगा।" उस बालक ने अपने गुरु से कुछ नहीं माँगा। आप सबने उनका जीवन चरित्र पढ़ा है। उन्होंने बहुत अधिक आर्थिक कठिनाइयां सहीं, परन्तु अपने गुरुदेव से कभी कुछ नहीं माँगा। विश्व की सबसे बड़ी दौलत गुरुमहाराज ने उनको प्रदान कर दी। जिसको ईश्वर मिल जाता है उसके लिए और क्या पाना शेष रह जाता है ?

यह संत मत की विशेषता है कि यह विद्या एक शरीर से दूसरे शरीर में, मन से मन में (सीना-ब-सीना) प्रवेश करती है। यहां तर्क नहीं सिखाया जाता, यहां प्रवचन नहीं दिए जाते। स्वतः ही परस्पर प्रेम उतपन्न हो जाता है तो काम हो जाता है। परन्तु सच्चे संत के पास यदि कोई व्यक्ति सच्ची लगन से जाता है तो वह व्यक्ति स्वयं संत स्वरूप ही हो जाता है। शर्त सिर्फ एक ही है कि योग्य पात्र हो और गुरु पूर्ण हो। यहां कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। पूज्य लालाजी महाराज के छोटे भाई (जिनको पूज्य चाचा जी महाराज कहते थे) उनके पास लोग बैठते थे, किस्से-कहानी होते थे, वहां अपने-अपने स्वप्न बताये जाते थे, आँख भी बंद नहीं करते-कराते थे।

इन्हीं बातों में, किस्से-कहानियों में, चाचा जी महाराज आध्यात्मिक विद्या बांटा करते थे और जिज्ञासु कहा करते थे कि, " इन क़िस्से कहानियों के सुनने में पता नहीं हमारे मन की अवस्था क्या हो जाती है ? हम समझते थे कि जैसे हम अमृत पी रहे हों, हम ईश्वर के चरणों में बैठे हों।" जितनी भी मेहनत है, साधारण व्यक्तियों के लिए है। सूक्ष्म वृत्ति के व्यक्तियों के लिए जो तैयार हो गए हैं और ईश्वर कृपा से जिनको पूर्ण संत मिल गए हों उनको कुछ करना धरना नहीं होता।

समाज में अनुशासनहीनता न फैल जाय इसलिए पूज्य दादा गुरु ने यह प्रचलित किया कि साधना अवश्य की जानी चाहिए, यम और नियम का पालन अवश्य किया जाना चाहिए। परन्तु सूक्ष्म वृत्ति के लोगों के लिए यह अनिवार्य नहीं है। पूज्य गुरुदेव महाराज ने कुछ नहीं किया। वे भी बीस-इक्कीस वर्ष की आयु में पूर्ण आचार्य बन गए थे। जो भी एक बार दरवार में आ गया, वह ख़ाली नहीं गया। भले ही उसको समय लगा हो, परन्तु ख़ाली नहीं गया।

जितना गुरु महाराज करुणा के सागर थे, उतना ही वे अनुशासन प्रिय थे। अनुशासन हीनता वह बर्दाश्त नहीं करते थे। उत्तर प्रदेश के एक आयकर एडवोकेट जनरल थे, बड़े नज़दीकी थे पूज्य लालाजी महाराज के। उनसे कुछ ग़लती हो गयी। पूज्य गुरु महाराज ने बहुत कोशिश की, लालाजी महाराज के पाँव पकड़े परन्तु लालाजी ने माफ़ नहीं किया। उनका कहना था कि एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है।

हमारे यहां का तप, साधन, आत्मिक अभ्यास

गुरुदेव कहा करते थे कि औरों का तप है धूप में बैठना, अग्नि के समीप बैठना और भी अन्य प्रकार के व्रत साधन करना परन्तु हमारे यहां का तप यह है कि हम स्व-निरीक्षण करते हुए अपने दोषों को हटाएँ। इन दोषों की निवृति के उपाय करना, हमारे यहां का तप है। लोग हमें गाली दें, हमारी बुराई करें और हम उसे सहन करें - यह है हमारे यहां का तप। यह नहीं कि किसी ने कोई साधारण सी अप्रिय बात की और हम आजीवन उसके शत्रु बन गए। यह हमारे यहां का साधन नहीं है।

हमारे यहां का साधन है - सहनशीलता, संतोष। ये गुण तभी आयेंगे जब हमारे भीतर में क्षमा का भाव होगा। हिमारे यहां हम दूसरों के दोषों को नहीं देखते हैं, उनके गुणों को देखते हैं। दोष और गुण तो सभी में होते हैं। यदि साधक की वृत्ति दोष देखने की है तो वह साधक नहीं है। सच्चे जिज्ञासु का तो स्वभाव होता है और वह सोचता है कि शायद मेरी ही ग़लती होगी जिसके कारण से मुझे दूसरे की ग़लती दीखती है। और वास्तविकता यही है। पूज्य लाला जी महाराज यही कहा करते थे कि हमें दूसरे की ग़लती इसलिए दीखती है क्योकि वह

ग़लती हमारे भीतर भी है। एक बार चाचा जी से अपने अफ़सर के प्रति कुछ ग़लती सी हो गयी। अफ़सर ने बहुत भला-बुरा कहा। चाचा जी ने भी कुछ क्रोध में प्रतिक्रिया की। वह अफ़सर बीमार पड़ गया। पूज्य लालाजी बहुत नाराज़ हुए, घर से निकाल दिया। छोटे भाई थे, राम-लक्ष्मण की तरह, बड़ा स्नेह था एक दूसरे के लिए, उन्होंने उन्हें याद दिलाया, समझाया कि हमारे यहां की तपस्या है लानतें सुनना, सहन करना, प्रतिक्रिया नहीं करना। किसी को श्राप दे देना - यह हमारे यहां का तरीक़ा नहीं है। फिर पूज्य चाचा जी ने उस अफ़सर से माफ़ी मांगी।

भंडारे में आने का लाभ

भंडारे में हम सब एकत्र होते हैं - किस लिए ? इसलिए कि यहां इस यज्ञ में आकर हम अपनी त्रुटियों को पूज्य गुरु महाराज के चरणों में अर्पण करें। हमें यहां से प्राप्त क्या होता है ? इस यज्ञ की अग्नि में जो प्रकाश होता है उसकी प्रेरणा से, उसकी शक्ति से हमें जनता की सेवा करनी है। चाहे कम, चाहे अधिक करनी होती है, परन्तु स्वभाव तो बनाना ही होता है। हम यहाँ प्रेम, पवित्रता व निर्मलता के लिए प्रार्थना करते हैं। अगर हम ऐसा नहीं करते तो हमारा यहाँ आना बेकार है। यह तो ऐसा हो गया जैसे कि किसी जगह की सैर कर आये, खाना वगैरह खा-पी आये। यहाँ आकर, इस यज्ञ में हम सबको स्व-निरीक्षण करते रहना चाहिए। अपनी ग़लतियों को छोड़ने की कोशिश करनी चाहिए। गलतियां छूटती देरी से हैं परन्तु कोशिश लगातार करनी चाहिए।

पुराने ज़माने में जब लोग तीर्थ यात्रा करने जाते थे तो अपने स्वाद को क़ाबू करने के लिए उन्हें जो वस्तु खाने की सबसे अच्छी लगती थी उसे वहां जाकर छोड़ देते थे। यह नहीं कि जो वस्तु अच्छी नहीं लगती उसे छोड़ दिया। बुज़ुर्गों ने जो रिवाज़ बनाये थे, वे ग़लत नहीं थे, उनके पीछे विज्ञानं था, सत्यता थी।

हमें त्याग करना है, त्याग करने का तरीक़ा सीखना है। पूज्य लालाजी महाराज की जीवनी पढ़ें। उन्होंने कितना त्याग किया है ? वे त्याग की मूर्ती थे, पूर्ण तपस्वी थे। कैसा संतोष था। निरंतर भीतर का स्नान करते थे। परमात्मा के चरणों में पूर्ण समर्पण था, तभी तो वह

दूसरों से कहते थे कि यम और नियम का पालन करो। हमारा मन पत्थर की तरह कठोर है। इस कठोरता को ख़त्म करने के लिए पूज्य लालाजी महाराज ने पाँच मराकबे (साधन) बताये हैं। हम उन्हें पढ़ लेते हैं, सुन लेते हैं परन्तु अभ्यास कितना करते हैं ?

करुणा के लिए उन्होंने महात्मा बुद्ध का मराकबा बग्ताया है कि ख़्याल से देखो कि अस्पताल में कैसे दुखी लोग पड़े हैं, संसार में लोग पारिवारिक जीवन में कैसे दुखी हैं, जेलों में लोग सड़ रहे हैं और किस तरह लोग अन्य कठिनाइयों में फंसे हैं। यह चित्रण अपने मन पर खेंचिये और लोगों की मुक्ति व सुख के लिए प्रयास और प्रार्थना कीजिये। धीरे-धीरे करुणा आ जाएगी। जिस व्यक्ति के भीतर में करुणा नहीं, दया नहीं, सरलता नहीं, लचक नहीं, जो शीशे की तरह टूट नहीं जाता, वैसे कठोर ह्रदय से वह साधना करने का अधिकारी नहीं है। यहाँ तो ऐसा दिल चाहिए जो दूसरे का दुःख देखकर जब तक उसका दुःख दूर न करदे चैन न पाए।

संत में वही गुण होते हैं जो परमात्मा में होते हैं। परमात्मा भी जब किसी पर प्रसन्न होते हैं तो उसकी थोड़ी सी साधना से संतुष्ट हो जाते हैं। संत रूप में आकर प्रसादी प्रदान करते हैं। उस प्रसादी को ही ' गुरु प्रसादी ' कहा गया है। हम लोग 'गुरु प्रसादी' शब्द रोज़ पढ़ते हैं परन्तु इसकी वास्तविकता नहीं समझते। जिसको सच्चा गुरु या संत मिल जाये और उसकी प्रसन्नता मिल जाये उसको तो सारा जहां मिल जाता है।

खोज जारी रहनी चाहिए कि हमें कोई सच्चा गुरु मिले और हम उसका सत्संग करें और उसकी सेवा करें। उसकी सेवा क्या है - उसके आदेशों का पालन करना। हाथ-पाँव की सेवा या रुपये-पैसे की सेवा का इतना महत्व नहीं है जितना कि अपने इष्टदेव के आदेशों का पालन करने का है। गुरु आपको दीक्षा देते समय क्या संकल्प लेते हैं आपसे, कि धर्म का जीवन व्यतीत करने का भरसक प्रयास करेंगे। यही करना है। संत का संग करें और उसके बताये हुए रास्ते पर चलने का प्रयास करें। इसी से आप मंज़िले मक़सूद (इच्छित लक्ष्य) यानी अपने ध्येय पर पहुंच जायेंगे।

बड़ा सरल रास्ता है। कोई तप नहीं करना, कोई शरीर को, मन को, दुःख नहीं पहुँचाना है, घर से भागना नहीं है। अधिक से अधिक जितना मिले अपने इष्टदेव का सत्संग करना चाहिए। सतसंग शारीरिक भी होता है, मानसिक भी होता है। मानसिक संग से ज़्यादा

लाभ होता है। जिनको गुरु से प्यार होता है, उनसे गुरु भी प्यार करता है। उन्हें गुरु सदैव मानसिक तौर पर अपने समीप रखता है। मां-बाप जैसे पालन-पोषण से कहीं अधिक गुरु अपने नज़दीकी प्रिय शिष्यों की देखभाल करता है।

पूज्य गुरुदेव के समय में मुझे बाहर अधिक जाना पड़ता था। मैं भूल जाऊं तो भूल जाऊं, उनकी कृपा मुझे नितान्त बरसती हुई मिलती थी। मुझे अनुभव होता था कि वह लगातार मेरे नज़दीक हैं और उनकी कृपा मुझ पर बरस रही है। एक बार उन्होंने कहा (और चार व्यक्तियों के नाम भी लिए) कि, ' जब भी हम किसी व्यक्ति को तवज्जोह देते हैं तो इन चार व्यक्तियों को हम सामने रख लेते हैं।" वह उनको अपनी तवज्जोह में सम्मिलित कर लेते थे। प्रत्येक गुरु का काम है कि वह सेवा करे, चौबीस घंटे प्रार्थना करते रहना चाहिए कि हे प्रभु ! इन भाइयों पर कृपा करें। और दीनता से प्रार्थना करनी है। अपने ऊपर कुछ न लेते हुए कि मैं करता हूँ, इस सेवा का श्रेय गुरु या परमात्मा को ही देना है और होता भी यही है।

राम सन्देश : अक्टूबर १९९१।

संसार में मोह-ग्रस्त हो जाना - अगले जन्म को निमंत्रण देना है

कई भाई व बहिनें यह पूछते हैं कि चित्त को निर्मल करने पर बल दिया जाता है परन्तु चित्त को निर्मल किया कैसे जाये ? जब ये चित्त निर्मल हो जाता है तो आत्मा का साक्षात्कार तुरन्त हो जाता है। इसे करना एक महान तप है। जो सच्चे जिज्ञासु हैं, जिनके मुखारबिंद से ये शब्द निकलते हैं कि, " हे परमात्मा, केवल आपका ख्याल रहे, मैं अन्य सब बातें भूल जाऊं ", उन लोगों के लिए स्वामी रामदास जी ने साधना की कई प्रक्रियाएं बतलायी हैं। अन्य व्यक्तियों के लिए तो समय लगेगा, साधना की आवश्यकता होगी, परन्तु जो गंभीर व्यक्ति हैं, जो यह चाहते हैं कि इसी जीवन-काल में उनकी चित्त-शुध्दि हो जाये उन्हें कुछ बलिदान करना होगा। स्वामी रामदास जी ने इसी के लिए चार बातें बतलायी हैं : तितिक्षा, उदासीनता, जगत प्रणाम एवं नाम।

(१) **तितिक्षा** - योग साधना में तितिक्षा का यह मतलब लिया जाता है कि शरीर इस तरह बलबान हो जाये कि वह सर्दी गर्मी दोनों को सहन कर सके। परन्तु चित्त शुद्धि के लिए उन्होंने इसका मतलब यह बताया है कि यदि जीवन में सुख -दुःख आते हैं तो साधक को चाहिए कि दोनों को एक जैसा समझे। यदि कोई हमारा अपमान करता है तो उसको ईश्वर-प्रसादी समझकर सहन करना चाहिए। अहंकार को छोड़कर दीनता अपनानी चाहिए। दीन वही बन सकता है जो प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियों में ईश्वर को नहीं भूलता और परिस्थितियों के इन दोनों रूपों को ईश्वर की प्रसादी समझता है। यह तितिक्षा है साधना के लिए। संसार में रहते हुए मान-अपमान तो होगा ही, दुःख-सुख आएंगे ही, शरीर के रोग आएंगे, मानसिक उत्तेजना मिलेगी - इन सबको ईश्वर प्रसादी समझकर व्यक्ति अपने भीतर में संतुलन न खोये, भीतर में शांत अवस्था बनी रहे, ईश्वर के साथ लौ लगी रहे। ईश्वर को छोड़कर किसी और के साथ हमें लगाव न हो।

ईश्वर के साथ प्रेम होना भी तप है, महान तप है। कहने को तो बड़ा सरल है परन्तु जब हम व्यवहार में तितिक्षा का अभ्यास करते हैं तो बार-बार असफल होते हैं। पर स्वामी रामदास जी का ऊंचे अभ्यासियों के लिए पहला आदेश यही है। इससे घबराना नहीं चाहिए। जो पुराने अभ्यासी हैं और जो चाहते हैं कि उनका जल्दी उद्धार हो जाये, उनके लिए स्वामीजी का आदेश यही है कि वे तितिक्षा का अभ्यास करें। प्रत्येक परिस्थिति में - चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल - भीतर की शांति और संतुलन बना रहे।

(२) **उदासीनता** - उनका दूसरा परामर्श है - उदासीनता। संसार के भोगों को भोग लिया, यहां के सुख देख लिए, यहां के सम्बन्धी देख लिए, परिवार के जितने सदस्य हैं उनका हमारा साथ क्या व्यवहार है , देख लिया। अब निंद्रा से जाग उठें कि इस संसार में अपना कोई नहीं है एवं संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसका अस्तित्व हमेशा के लिए हो। सब व्यक्तियों, सब वस्तुओं का अस्तित्व क्षणभंगुर है, उनका स्वरुप परिवर्तनशील है। कोई भी व्यक्ति, कोई भी वस्तु - सब नाशवान हैं। सिवाय परमात्मा के।कोई भी व्यक्ति या वस्तु, या विचार चिरकाल तक नहीं रहता। आज पैसा है तो कल गरीबी आ जाती है। आज स्त्री और पति में प्रेम है, कल दोनों में किसी मामूली सी बात को लेकर झगड़ा हो जाता है। संसार जब ठुकराता है, जब दुःख आते हैं, जब उत्तेजना मिलती है - तब जिज्ञासु को वैराग्य होता है कि यह संसार क्या है ? क्या खाना-पीना मौज़ उड़ाना ही संसार है ? जब संसार का सार पता लगता है तो उसके ह्रदय में उदासीनता आ जाती है। ये कैसा संसार है ? मैं किस कीचड़ में फंसा हुआ हूँ ? किस दल-दल में फंसा हुआ हूँ ? तब वह जिज्ञासु यहां से निकलने की कोशिश करता है और ईश्वर से लौ लगाता है। जब तक संसार से उदासीनता नहीं आती, ईश्वर प्राप्ति का सच्चा भेद नहीं खुल सकता।

प्राणी ईश्वर को चाहे और संसार को भी चाहे, यह बात एक दूसरे के विपरीत है। इसका मतलब यह नहीं कि संसार को छोड़कर भाग जाना है या जंगलों में जाकर रहना है। जंगल में जाकर क्या करेंगे ? हमारे भीतर में जो संसार है वो तो हमें वहां जाकर भी कष्ट देगा। कहाँ भागकर जायेंगे ? जब सच्चा वैराग भीतर में उतपन्न हो जाता है तो संसार से उदासीनता उतपन्न हो जाती है। उदासीनता का मतलब यह नहीं कि हम किसी से लड़ते हैं, झगड़ते हैं, बोलते नहीं हैं या किसी से बदले की भावना रखते हैं। हमको समझ आ जाती है,

सच्चा ज्ञान हो जाता है कि इस संसार में कुछ सार नहीं है, यदि सार है तो केवल एक परमात्मा में है। संसार से उदासीनता आने के बाद ही ईश्वर के साथ प्रेम उत्पन्न होता है।

अज्ञानी व्यक्ति संसार में फंसे रहते हैं। ठोकरें भी लगती हैं तो भी उनको मज़ा आता है। वो अज्ञान-निंद्रा से जाग्रत नहीं होते। जब तक इस मोह से,अज्ञान के अँधेरे से, हमें उदासीनता नहीं होगी तब तक ईश्वर के साथ सच्चा प्रेम नहीं हो सकता। तब तक हमें इस बात का भी आभास नहीं हो सकता कि इन शब्दों के अर्थ क्या हैं - " **या रब तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे ।"** सच्चे जिज्ञासु को और कोई इच्छा नहीं, उसे मुक्ति की भी इच्छा नहीं है। उस परमात्मा की गति (रज़ा) में जिज्ञासु अपनी गति मिला देता है, इसी में उसको प्रसन्नता होती है। वो भगवान की रासलीला में सम्मिलित होकर प्रसन्न चित्त उसका आनंद लेता है। 'केवल तू ही तू रहे'। बाहर में भी तू हो और मेरे भीतर में भी तू हो। केवल तू ही तू रहे। मेरा अस्तित्व प्रेम के उस महान सागर में लय हो जाये। वो ही वो रहे। कहने वालों के लिए तो वह (द्वैत भाव) रहता ही नहीं, केवल हम अज्ञानियों को समझने के लिए महापुरुष ऐसा कहते हैं।

" या रब तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे "

जब तू ही तू रहता है तो हमारी ज़बान बंद हो जाती है, कहने वाला है ही कौन ? महापुरुष हम पर दया करके, करुणा करके, मन के स्थान पर आकर हमें समझाने का प्रयास करते हैं। ऊंचे स्थान से नीचे मन के स्थान पर आकर यानी हमारे ही स्थान पर आकर वो हमें समझाने की कोशिश करते हैं, यह उनकी बड़ी दया है। उदासीनता का मतलब यह नहीं कि संसार में रहकर हम यहां के व्यवहार न करें। नहीं, हम संसार में भी रहेंगे पर संसार की असलियत क्या है, सार क्या है, उसको समझ कर चलेंगे। मृत्यु आनी है, इस शरीर को छूटना है, इसके लिए हमें तैयारी करनी है। जिसके भीतर में उदासीनता पैदा हो गयी है, वही मरने को तैयार होता है और जब तक इंसान जीते जी नहीं मरता, वह स्वतंत्र नहीं हो सकता। उस 'मृत्यु' के लिए तैयार रहना होगा ?

एक महापुरुष की सेवा में एक सच्चा जिज्ञासु गया और पूछा कि, 'मुझे क्या साधना करनी चाहिए'? महापुरुष ने कहा कि, " यदि तुम्हें यह पता लग जाये कि छै घंटे के बाद तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी तो तुम क्या करोगे ? " वो जिज्ञासु कुछ सरल तबियत का था, बोला

कि, " महाराज, मुझे तो कुछ समझ में नहीं आरहा कि मैं क्या करूंगा ?" उन्होंने पूछा कि,। " क्या तुमने कभी किसी मरते हुए व्यक्ति को देखा है?" उसने कहा, "हाँ महाराज, देखा है।"

" वह क्या करता है ?"

" वह सबसे क्षमा मांगता है कि, " भाई, मुझसे कोई गलती हो गयी हो, कोई भूल हो गयी हो तो मुझको क्षमा कर देना।और वह खुद भी कोशिश करता है कि मन से उन सब लोगों को भी क्षमा कर दे जिन्होंने उसके प्रति कुछ अपकार किया हो। "

उस महापुरुष ने जिज्ञासु को उपदेश दिया कि इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करो और याद रखो कि मौत होने वाली है। उस वक्त तुम्हारी स्थिति क्या होनी चगहिये ? किसी के साथ न राग हो, न द्वेष हो। यदि तुमने किसी के साथ बुराई की है तो उससे क्षमा मांग लो और इन संस्कारों से मुक्त हो जाओ। यदि इन संस्कारों से मुक्त नहीं होंगे तो तुम्हें दूसरा जन्म अवश्य मिलेगा। इसी तरह से यदि किसी ने तुम्हारे साथ धोखा किया है, कोई बुराई की है तो उसको क्षमा कर दो। इसी निर्मल अवस्था को लेकर, राग द्वेष से मुक्त होने की अवस्था को लेकर कबीर साहब ने परमात्मा से निवेदन किया था कि, " प्रभु, जैसी सफ़ेद चादर आपने मुझे दी थी, वैसी की वैसी ही सफ़ेद चादर आपके चरणों में अर्पण है। " ये अवस्था संतों की होती है। वे संसार से उपराम (मरे हुए) होते हैं। उनकी कोई आसक्ति नहीं होती, किसी प्रकार का कोई बंधन नहीं होता, उनका कोई शत्रु नहीं है और किसी के साथ कोई मोह नहीं है।

सत्संग करते हैं और यदि सत्संग में फंस गए तो छूटेंगे नहीं। ये ठीक है कि सत्संग अच्छी बात है, मगर यदि इससे चिपकाव हो गया तो दूसरे जन्म में आकर फिर यही काम करना पड़ेगा। ये मुक्ति नहीं हुई, न ही यह स्वतंत्रता है। यह राग है, खिंचावट या चिपकाव है। चिपकाव का परिणाम होता है संस्कार। जब तक संस्कार हैं, जन्म मरण का चक्र चलता रहेगा। बुरे संस्कार हैं तो बुरा जन्म मिलेगा, और अच्छे संस्कार हैं तो अच्छा जन्म मिलेगा, मगर जन्म मिलेगा ज़रूर। इसके लिए उदासीनता करनी चाहिए कि मन जहाँ-जहाँ फंसा हो वहां से उसे निकाल लेना चाहिए। यह राग और द्वेष दोनों में फंसा रहता है पर द्वेष में अधिक। इससे छूटना बड़ा कठिन है।

और भी बातें हैं- जेसे आशाएं हैं, इच्छाएं हैं, घृणा है, निन्दा है। अपने स्वभाव के कारण जो आदतें पड़ जाती हैं, इंसान उन्हीं में फंसा रहता है। तो उन महापुरुष की जो बात है कि।' छै घंटे में मौत आने वाली है" -ये याद रखना है। उसके लिए ज़रूरी है कि जहाँ-जहाँ आपका लगाव है उन काटों से अपना पल्ला छुड़ा लेना चाहिए। यद्यपि यह है बड़ा कठिन। यदि हम यह नहीं करते तो सच्ची उदासीनता उत्पन्न नहीं होगी। मन में पकड़ रहेगी। ठीक है कि उदासीनता हो मगर उदासीनता के साथ चिपकाव न हो। इसका मतलब रूखापन नहीं है। उदासीनता का मतलब यह है कि संसार का सार समझ में आ गया कि यहाँ रहने वाला कुछ भी तो नहीं है, इसलिए इसके साथ मोह-ग्रस्त होना दूसरे जन्म को निमंत्रण देना है।

(३) **जगत प्रणाम** - तीसरा उपाय स्वामी रामदास जी का है - ' जगत प्रणाम '। यह सारा जगत जो दीखता है ईश्वर का ही रूप तो है। सबको प्रणाम करना यानी सबका सम्मान यह समझकर करना कि यह ईश्वर का रूप है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह गरीब है, अनाथ है, या धनवान है, सबका एक जैसा सम्मान यानी सबके भीतर परमात्मा का दर्शन करना चाहिए। कई लोग सुबह उठकर पहले तो गुरु के चरणों में प्रणाम करते हैं फिर सारे जगत को प्रणाम करते हैं। ऐसा करने से हमारी दृष्टि ईश्वर-मय बन जाती है।

जिस वक्त यह साधन सिद्धि का रूप पकड़ लेता है, सहज अवस्था होती है, कण-कण में उसी का दर्शन करते हैं, फिर किसी के साथ बैर, विरोध, बुरी भावना या घृणा क्यों हो ? हम तो सब की ही पूजा करेंगे। कथित शत्रुओं की भी पूजा करेंगे।

यह आसानी से होता नहीं है। जो बात आसानी से नहीं होती उसी के लिए बार-बार प्रयास करने को ही साधना कहते हैं। लेकिन असली साधना यह है कि जहाँ -जहाँ मन फंसा हुआ है वहां से हटाकर उसे शास्त्रों के नियमों के अनुसार, गुरु के उपदेश के अनुसार, प्रकृति के नियमों के अनुसार बनाना है। इस कोशिश को ही साधना कहते हैं।

" मन के साधे सब सधे, सब साधे सब जाय "

जब तक मन नहीं सधता ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते।। यह मेरा विश्वास है। कई भाई इससे भले ही सहमत न हों, कि न जब तक ईश्वर के गुणों को नहीं अपनाता, मनुष्य जब तक

ईश्वर-रूप नहीं होता, तब तक साधना सिद्ध नहीं होती। तो, स्वामी रामदास जी का परामर्श है कि सब प्राणियों में, जगत के प्रत्येक कोने में, स्थावर जंगम में परमात्मा की उपस्थिति का भान करें। यही हमारे यहाँ की साधना है। ईश्वर कृपा जो हर वक्त बरसती रहती है, जिसे भगवत-प्रसादी या फ़ैज़ कहते हैं, जिसको ईसाई मत में ग्रेस (grace) कहते हैं और संतों की भाषा में इसको अमृत कहते हैं, उसकी धार को प्रतिक्षण पकड़ना चाहिए। इसी प्रसादी को प्रतिक्षण ग्रहण करते रहना चाहिए

धीरे-धीरे इस कृपा की धार को पकड़ना हमारा स्वभाव बन जायेगा, सहज स्थिति हो जाएगी कि हम जहाँ बैठेंगे वहीं उस अमृत-धारा को पकड़ सकेंगे। जैसे ही यह अमृतधारा हमारे शरीर में स्पंदन बना लेती है हमें सब में ही ईश्वर के दर्शन होते हैं। जिस दिन शत्रु के पास बैठकर भी हमें ईश्वर की अनुभूति होगी तब हमारे भीतर में उसके प्रति घृणा नहीं होगी और जब तक किसी भी व्यक्ति के लिए हमारे मन में शत्रुता है तब तक ईश्वर तो दूर, भीतर से आपको सुख भी नहीं मिल सकता, आनंद नहीं मिल सकता। देख लीजिये आप किसी के प्रति शत्रुता की भावना रख कर। आप प्रश्न करेंगे कि दुनियां में रहकर हम ऐसा कैसे कर सकेंगे ? जिसको वाणिज्य-व्यापार करना है वह भले ही मर्यादानुसार मित्र को मित्र और शत्रु को शत्रु समझते हुए सतर्क रहे, परन्तु जिसको ईश्वर के दर्शन करने हैं उसको तो सब कुछ बलिदान करना ही होता है।

संत सबमें परमात्मा को कैसे देखते हैं, इसका एक उदाहरण देखिये। एक महापुरुष के घर में एक डाकू भेष बदल कर आया। कहने लगा, " रात बहुत हो गयी है, भूखा हूँ, आश्रय चाहिए।" महापुरुष ने कहा-

" अच्छा है, रहिये, परन्तु घर में कुछ है नहीं, मैं बाहर से कुछ अन्न आदि लाता हूँ, आपको भोजन कराता हूँ।" वे घर के बाहर गए, उस डाकू ने महापुरुष की स्त्री को कत्ल किया और उनके आभूषण आदि जो उसने पहन रखे थे, लेकर भागा। रास्ते में वह महापुरुष मिले और बोले -" अरे तुम कहाँ जा रहे हो।? ठहरो"। उसके कपड़े खून से रंगे हुए थे। पता तो लग ही गया। " तू तो भूखा था। मैं ले आया सामान, भोजन बनाता हूँ, तू खाकर जा। बिना खाये मैं नहीं जाने दूंगा।" डांकू भय से काँप गया परन्तु वह महापुरुष उसे अपने साथ ले आये। खाना

खिलाया, तब कहा कि खाट के नीचे छिप जाइये, पुलिस आने वाली है। इसने स्त्री को मार डाला है, यह वह जानते हैं फिर भी उसको खाना खिला रहे हैं और उसे पुलिस से छिपा रहे हैं। बड़ा कठिन है ऐसा करना, परन्तु उन महापुरुष को सब में भगवान नज़र आते हैं, भगवान की ही रासलीला है -ऐसा समझकर ही उन्होंने सब कुछ किया।

हम बड़ी ऊंची-ऊंची कविताएं (भजन) पढ़ते हैं कि जो कुछ करता है भगवान ही करता है। पर जब हमारी परीक्षा होती है तो हम फेल हो जाते हैं। जब हमारी आशाओं के अनुकूल बातें होती हैं तब तो हम कहते हैं कि परमात्मा बड़े कृपानिधि हैं, उनकी हमारे ऊपर कितनी करुणा है और जब बातें हमारे प्रतिकूल होती हैं, हम ईश्वर को भूल जाते हैं और जितनी यह फिलोसफी (दर्शनशास्त्र) है इसको भी भूल जाते हैं।

तो जगत-प्रणाम का मतलब यह है कि हमारा दुश्मन कोई रहे ही नहीं, हमें सबमें ईश्वर के दर्शन हों। " बिसर गयी सब तात परायी, जब ते साध संगत मोहि पाई।" गुरु नानक देव जी कह रहे हैं कि जब से मैं सत्संग में गया हूँ, तब से मेरे भीतर में ज्ञान उत्पन्न हुआ है, मेरे भीतर की आँखें खुल गयीं हैं, अब मुझे कोई बेगाना (पराया) नज़र आता ही नहीं। " न कोई बैरी ना बेगाना " अब तो मुझे कोई बैरी या बेगाना दीखता ही नहीं, मुझे सब मेरे ही रूप दीखते हैं। इसके लिए तप करना पड़ता है, केवल बातों से ऐसा नहीं होता है। महापुरुषों की बातों में बड़ा वज़न होता है, कम से कम कोशिश तो करो, सफलता-असफलता प्रभु के हाथ में है।

(४) **नाम** - स्वामी रामदास जी का चौथा परामर्श है - " नाम "। नाम का मतलब है ईश्वर से प्रेम करना। ईश्वर के जगत रूप की सेवा करना। उस प्रेम रुपी सीढ़ी को अपनाकर या नाम को (गुरु रूप में) अपनाकर भवसागर से पार होना है। नाम वो साधन है जिसके द्वारा हम अपने चित्त को निर्मल करते हैं, संस्कारों से मुक्त होते हैं एवं आत्मा को परमात्मा में लय कर देते हैं। नाम में ही सब साधन आ जाते हैं। अपने आपको योगी बनाना है, ये भी नाम का ही फल है। अपने आपको ईश्वर के चरणों की रज बना देना है, अपने आपको ख़तम कर देना है, ये भी नाम का ही फल है। नाम केवल राम-राम कहने से नहीं होता। कबीर जी के शब्दों में काठ की माला लेकर जपने से नहीं होता। मन की माला जपो। मन की माला से क्या मतलब है ?

इसका मतलब है कि हमें अपने मन को शुद्ध करना है, पवित्र करना है, संस्कारों से मुक्त करना है। अज्ञान से और मोह से मुक्त करना है, मन की दीवार को तोडना है एवं आत्मा और परमात्मा के योग के लिए साधन करना है। बीच में दीवार हमारे मन की है जिसे तोडना है।

नाम का मतलब है कि जिस तरीक़े से भी हो हमारा ईश्वर के साथ प्यार हो जाये। कोई राधा का नाम लेकर उसको पुकारता है, कोई कृष्ण का नाम लेकर उसे पुकारता है, कोई शिव, कोई हनुमान जी, कोई अल्लाह या ख़ुदा या ॐकार आदि नाम लेता है। सब ही सही हैं। परन्तु नाम के साथ भाव होना चाहिए। यदि नाम के साथ भाव नहीं है, प्रीतम से मिलने की व्याकुलता नहीं है, नाम के साथ नाम का अधिकारी बनने की चेष्टा नहीं है, सिर्फ रस्मी तौर पर सुबह पाँच -दस मिनिट बैठ लिए और सोच लिया कि हमने तो नाम ले लिया, इससे कुछ नहीं होता। नाम लेते-लेते अपने अस्तित्व को खत्म कर दें। केवल परमात्मा ही परमात्मा रहे। ये सब नाम में ही आ जाता है। गुरु का या ईश्वर का ध्यान करना, भीतर का शब्द सुनना मन को पवित्र करने के साधनों को अपनाना, यह भी नाम में ही आ जाता है।

नाम एक ऐसा विशाल साधन है, एक ऐसी गंग-धार है जिसमें छोटे-छोटे सब साधन लय हो जाते हैं। अन्त में नाम एक प्रेम रह जाता है। भगवान की बांसुरी का वो आकर्षण जिसको सुनकर गोपियाँ घर-बार छोड़ कर भाग खड़ी होती थीं। ये प्रेम है, प्रेम का सम्बन्ध है। मुरली की आवाज़ में ही भगवान की पुकार है, भगवान कि स्मृति है। भगवान तो निरन्तर ही मुरली बजा रहे हैं, यदि हमारे कान नहीं सुनते तो दोष किसका है? हमारे भीतर में प्रेम है ही नहीं, व्याकुलता है ही नहीं। ईश्वर के प्रति उदासीनता है इसलिए उस मुरली की धुन की तरफ हमारी खिंचावट होती ही नहीं। चुंबक (magnet) के पास लोहा रखा जाता है तो वह स्वयं खिंच जाता है। अन्य धातुएं रखी जाती हैं तो वे नहीं खिंचतीं। हमारी भी यही स्थिति है। परमात्मा तो बुला रहे हैं, भगवान बुला रहे हैं परन्तु हम उस धातु के बने हैं जिसमें खिचने का आकर्षण नहीं है। हम क्यों नहीं खिंच जाते, क्योकि हमारा चित्त निर्मल नहीं है।

स्वामी रामदास जी ने नाम के ऊपर बहुत कुछ लिखा है। अन्य महापुरुषों ने भी नाम के ऊपर बहुत कुछ बताया है। यहां तक कहा गया है कि नाम और नामी में कोई अंतर नहीं है। और ये सत्य है। साधक को नाम में ही पूर्ण समर्पण करना है।

" **मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा "।** अपनापन, अपने मन का चिपकाव, इन सबको छोड़ना है। यहां तक कि ये शरीर भी तो अपना नहीं है। आगे चलकर ये मन भी तो अपना नहीं बनता। इसका सार समझिये। संसार में है क्या, इस हाड मांस के पुतले में है क्या ? केवल गंदगी है। हम अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर इसको सजा कर रखते हैं। आखिर यह है क्या ? जब तक यह शरीर है तभी तक आप ईश्वर प्राप्ति के लिए साधन कर सकते हैं। जिस वक्त यह शरीर छूट जायेगा, तब आप पछताते रह जायेंगे। ईश्वर के मिलने की कोई साधना बिना मानव शरीर के हो ही नहीं सकती। मोक्ष प्राप्ति के लिए देवताओं को भी मनुष्य चोला धारण करना पड़ता है। ये ईश्वर की महान कृपा है कि हम को मनुष्य चोला मिला है। इसमें दोनों चीज़ें हैं। गंदगी भी और आत्मा भी है। गंदगी से हमें उदासीन होना है और ईश्वर या आत्मा से प्रेम करना है।

ये चार अमूल्य बातें स्वामी रामदास जी की हैं और यदि हम कोशिश करें तो ये हमारे लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। नाम पर लिखा गया है कि चाहे भोजन छूट जाये, अन्य सब बातें छूट जाएँ परन्तु ईश्वर की स्मृति नहीं छूटे। शुरू-शुरू में उन्होंने वाचक नाम दिया है। ऊँचे-ऊँचे स्वर से " ॐ राम, जय राम, जय, जय राम " का उच्चारण करो । बहुत सारे लोग यही समझते हैं कि केवल यही नाम लेते रहें -- नहीं। आगे चलकर जब उन्होंने इस नाम को अपने शरीर के रोम-रोम में बसा लिया, ईश्वर में श्रद्धा और विश्वास दृढ हो गए, भीतर में प्रेम उतपन्न हो गया, तब उन्होंने भीतर की साधना की यानी मौन की साधना की। ये भी नाम है। महर्षि रमण ने इस स्थिति को इन शब्दों में कहा है कि, "शरीर भी मृतक जैसा हो जाता है, मन स्थिर हो जाता है और श्वांस और प्रश्वांस की गति भी धीमी से धीमी हो जाती है।"

इस स्थिति को अनेक संतों और सूफियों ने यों बताया है-- शरीर तनाव मुक्त हो (relaxation of the body) मन स्थिर हो (relaxation of the mind) भीतर में कोई प्रलाप न हो, कोई भावना या विचार न रहे (relaxation of feelings)। ये तैयारी है । इसके बाद ईश्वर के प्रेम की प्रतीक्षा में साधक बैठ जाए। ये साधन है जो सबको समझना चाहिए। - शरीर सही और स्वस्थ हो, रोगी न हो। मन भी स्वस्थ हो, संकल्प- विकल्प से मुक्त हो। भीतर में कोई तनाव न हो, कोई भाव, कोई आशा, कोई इच्छा न हो। कर्तापन, भोक्तापन का भाव न हो।

कलाकार के हाथों में पत्थर जैसे अपने आप को समर्पण कर देता है और कलाकार उस पत्थर से एक बड़ी सुन्दर मूर्ति बनाता है, केवल उसी प्रकार से हमें अपना सर्वस्व भगवान के चरणों में समर्पण कर देना चाहिए। उस महान कलाकार को हमें अपनी गढ़त करने का अवसर देना चाहिए। " हे प्रभु ! तेरी इच्छा पूर्ण हो।" जैसी मूर्ति आप हमारी बनाना चाहते हैं, बना डालिये, हमें स्वीकार है। अभ्यासी ऐसा करके देखें तो कि जब हम पूर्णतया समर्पण करते हैं तो कितने अद्भुत आनंद की अनुभूति होती है।

इस अनुभूति के लिए भीतर का तनाव छोड़ना होगा और सबसे कठिन बात यही है। महात्मा बुद्ध भी कहते हैं - " हमारा जीवन आशाओं और इच्छाओं की अग्नि में जलता रहता है।" उन्होंने तो यहां तक कहा है कि हमारी आंतरिक बीमारियों और सब दुखों का कारण ' इच्छा ' है। हमारे यहां इच्छाओं से मुक्त होने के लिए संतोष का साधन करते हैं, प्रत्येक परिस्थिति में ईश्वर का धन्यवाद करते हैं एवं जिस हाल में वह परमात्मा हमें रखे उसी में संतुष्ट रहते हैं। ऐसा करने से साधक इच्छाओं और आशाओं से मुक्त हो सकता है। जब तक आशायें और इच्छायें हैं तब तक भीतर में तनाव बना रहेगा। जब साधना में बैठें तो संसार की बातों को भूल जाना चाहिए।

स्वामी रामदास जी ने इन चारों बातों में गीता का सार ले लिया है। कोई भी ग्रन्थ उठा लीजिये, सब में चित्त को निर्मल करना अति आवश्यक बताया गया है। हमारा चित्त जब तक निर्मल नहीं होता तब तक साधना में रस और आनंद आ ही नहीं सकता। जैसे, यदि आपको क्रोध आया हुआ है और आपके सामने स्वादिष्ट भोजन रखा जाये तो उस स्वादिष्ट भोजन में भी आपको आनंद नहीं आएगा। आप उसे खाना नहीं चाहेंगे। इसी प्रकार यदि भीतर में क्रोधाग्नि जल रही है, घृणा है, द्वेष है, शत्रुता है, बदले की भावना है और आप चाहें कि आपको भीतर में शांति मिले, सो तो असम्भव है। आपके भीतर में ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं, भय है, आप सुरक्षित अनुभव नहीं करते, भयभीत रहते हैं, भीतर में चाह है कि यह काम इस प्रकार हो जाये, मेरी इच्छा या आशा के अनुसार हो जाये, और जब साधना में बैठते हैं तो इसी की रट लगाते हैं, तो सोचिये कि साधना में आनंद कैसे आ सकता है ?

इन सब बातों से ही भीतर में तनाव उतपन्न होता है। साधना करते-करते यदि यह तनाव ख़त्म नहीं होता तो हमारी साधना में कहीं कमज़ोरी है। पहली सफलता जो साधना में मिलनी चाहिए वह यह है कि भीतर में तनाव न रहे। जिसके भीतर में तनाव है उसका शरीर भी रोगी रहेगा, मन भी रोगी रहेगा। ऐसे व्यक्ति में क्रोध होता है और यह क्रोध और तनाव, जैसा कि डॉक्टर लोग जानते हैं, स्नायु रोग (nervous diseases) के कारण बनते हैं । सत्संगी को तो तनाव से दूर रहना चाहिए। गुरुदेव कहा करते थे कि सामान्य व्यक्ति पर तो बुराई उतना प्रभाव नहीं डालती, परन्तु जिसकी चादर सफ़ेद है, जो सतोगुणी है, उन पर यदि काले रंग का कोई दाग़ पड़ जाता है तो वह दूर से दीखता है। सत्संगी पर बुराई का बड़ी जल्दी प्रभाव पड़ता है। इसलिए सत्संगी को सतर्क रहना चाहिए।

गुरु के उपदेश हम सुन लेते हैं परन्तु उन पर मनन और अमल नहीं करते। सारांश यही है कि मनुष्य चोले के महत्व को समझें और सांसारिक मोह त्याग कर '**तितिक्षा**' को अपनाएं तथा सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि से ऊपर उठकर **'उदासीन'** हो जाएँ। तदुपरांत, संसार के हर प्राणी में ईश्वर का स्वरुप देखकर '**जगत प्रणाम'** का भाव व्यवहार में लाएं।

इस प्रकार आपकी जो तैयारी हो चुकी होगी उससे गुरु के आदेश एवं निर्देशन में ' **नाम** ' की साधना पूर्ण की जा सकती है। नाम साधना की सिद्धि ही अंततः प्राणी को दूसरे जन्मों यानी जन्म-मरण के चक्कर से निकालकर मनुष्य चोले का वास्तविक उद्देश्य प्राप्त करा सकेगी।

गुरुदेव आप सबका कल्याण करें।

राम सन्देश: मार्च-अप्रैल, १९९४।

सच्चा पश्चाताप और प्रार्थना

विश्व के महान धर्मों - सनातन हिन्दू धर्म, वैदिक आर्य, जैन, बौद्ध, सिख, राधास्वामी तथा ब्रह्म समाज - सभी के आधारभूत दर्शन शास्त्रों एवं वाङ्गमय ने भारतीय संस्कृति का मूलभूत जीवन-सिद्धांत एकात्म भाव से एक ही माना है। इनकी आध्यात्मिक मान्यताओं एवं दार्शनिक मीमांसाओं के अनुसार आत्मा (जीव) का परमात्मा

(ब्रह्म) में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन की सर्वोच्च परिणति या अंतिम गति है। जब तक यह गति प्राप्त नहीं हो जाती, जीवात्मा कर्म और उनके फलस्वरूप भोगों के चक्कर में जन्म जन्मान्तर तक भटकती रहती है। इसी को "कर्म-सिद्धांत " की संज्ञा दी गयी है।

साधक के जीवन में भी कर्मों संस्कारों-विचारों का ताँता चलता रहता है। प्रश्न यह सामने आता है कि इन से छुटकारा कैसे मिले?

आज जो हमारा वर्तमान है, एवं इससे पहले हमारे जो जीवन थे, हमने उनमें अगणित ग़लतियाँ कीं हैं, लाखों बुरे कर्म किये हैं और अब भी करते जा रहे हैं। साधक जब मौन साधन में, पूजा उपासना में बैठता है तो वह चाहता है कि उसके ध्यान में किसी प्रकार के विचार न उठें परन्तु वह विवश हो जाता है क्योकि विचारों का ताँता सा लगा रहता है। कई बार अधिक विचार आने के कारण वह साधना ही छोड़ देता है, पर ऐसा करना नहीं चाहिए।

विचारों से मुक्त होने के लिए दो मुख्य साधन हैं - (१) प्रायश्चित, (२) प्रार्थना ।

प्रायश्चित

अपनी बुराईयों को याद करके सत्यता से प्रायश्चित करना चाहिए एवं दृढ़ संकल्प लेना चाहिए कि भविष्य में उन बुराइयों की पुनरावृत्ति नहीं करेंगे। परन्तु इन्द्रियों के वशीभूत मन कमज़ोर हो जाता है। मन का स्वभाव बन जाता है कि वह बार-बार ग़लतियाँ करता रहता है ।

ऐसी स्थिति में बार-बार प्रभु से क्षमा मांगनी चाहिए। यदि कोई त्रुटि या आदत आपसे नहीं छूटती तो उसके लिए जब आप इष्टदेव की आराधना में बैठें तो निवेदन करें। उस त्रुटि को अपने इष्टदेव के सामने रख कर उससे मुक्ति के लिए शक्ति की प्रार्थना करनी चाहिए। परन्तु

मन यहां भी धोखा देता है। कई बार निराश होकर लोगों ने जीवन दे दिया, आत्म हत्या कर ली। यदि एक बार प्रभु या अपने गुरु के चरणों में प्रण लेने के उपरान्त वो गलती दोबारा होती है तो साधक अपने प्राण दे देता है ।

सर्वप्रथम पश्चाताप करिये, दीनता से, रो-रोकर। महापुरुषों ने लिखा है कि एकांत में बैठकर खूब रोइये, रो-रो करअपनी अपनी गलतियों पर पश्चाताप करिये, अपने आपको अपने ही आंसुओं से भिगो डालिये ।

इससे वर्तमान यानी चेतन अवस्था में जो संस्कार पड़े हैं वो तो समाप्त होना आरम्भ हो ही जायेंगे, परन्तु अचेतन और अवचेतन अवस्था में जो संस्कार पड़े हैं, उन्हें भी ढीला करने में मदद मिलती है, पर उसके लिए समय लगता है। साधन उसके लिए भी यही है। पश्चाताप करते चले जाएँ और ईश्वर से प्रेम करें। मन में एक शून्यता (।।।।वैक्यूम) आ जाती है। उस शून्यता में भरने के लिए कुछ चाहिए। यदि मन पश्चाताप से ख़ाली होने के साथ ही ईश्वर प्रेम से उसे नहीं भरता, परमात्मा से अनुराग नहीं करता, तो शून्य में अन्य कुछ भी समा जाता है ।

संक्षेप में, परमात्मा से प्रेम करें अनुराग द्वारा, और संसार से वैराग करें पश्चाताप द्वारा। परमात्मा से अनुराग के लिए हर समय प्रार्थना करते रहना चाहिए। प्रार्थना और आराधना में अपार शक्ति है। इनसे दृढ़ संकल्प का सामर्थ्य भी प्राप्त होता है ।

संस्कारों से, वृत्तियों से, स्वभाव से, निवृत होना कोई साधारण बात नहीं है। इसके लिए बार-बार पश्चाताप करना चाहिए। इसके साथ-साथ हमारा जीवन शुद्ध और पवित्र होना चाहिए। जो पिछले बुरे कर्म अथवा पाप किये हैं उनके विचार साधनावस्था में अवश्य आएंगे। इसीलिए कबीर साहब ने फ़रमाया है कि संसार में रहकर सर्वप्रथम राग और द्वेष दोनों का त्याग करें। यह बड़ा कठिन है ।

दार्शनिक जो दूसरा साधन बताते हैं वह यह है कि ' जागरूक होकर ' जीवन व्यतीत करना चाहिए। किसी की प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिए। प्रतिक्रिया शून्य अवस्था में भी नहीं होनी चाहिए। हम आँखों से देखकर, कानों से सुन कर, जुबान से खाने में, तुरंत प्रतिक्रिया करते

हैं, विचारों की भी तुरंत प्रतिक्रिया करते हैं । इस प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरुप अंतर में विचारों का ताँता सा लग जाता है। मनुष्य उन विचारों को छोड़ न पाने से पागल सा हो जाता है । जितने अधिक विचार उठेंगे, संस्कार उतने अधिक दृढ़ होंगे। इसलिए मौन को अपनाये बिना संस्कार कभी समाप्त नहीं हो सकते । निरंतर शून्य मौन में रहने का प्रयास करना चाहिए ।

प्रार्थना

प्रार्थना में बड़ा बल है। जो लोग रामेश्वरम गए हैं वे जानते हैं कि भगवान राम ने विशाल सागर के ऊपर पत्थरों से पुल बनाया था जो साधारणतः असम्भव सी बात है। परन्तु उन्होंने पुल बनाने से पहले भगवान शिव और समुन्द्र की प्रार्थना की। हमें प्रेरणा देने के लिए, स्वयं पूजा-प्रार्थना करके उन्होंने यह आदर्श दिखाया कि प्रार्थना के बल पर हम कैसे अपना जीवन व्यतीत करें। उस समय उन्होंने भगवान के रूप में नहीं अपितु राम के रूप में प्रार्थना की और सागर पर पत्थरों का पुल बन गया।

ऐसे ही महाराजा रणजीत सिंह फ़ौज़ लेकर क़ाबुल पर विजय प्राप्त करने जा रहे हैं, अटक के पास एक सागर समान गहरा दरिया आ जाता है। पानी बहुत गहरा तथा प्रवाह भी बहुत तेज़ । उस समय पुल नहीं होते थे। महाराजा रणजीत सिंह की ईश्वर में बड़ी दृढ़ आस्था थी। उन्होंने पहले पूजा-पाठ किया ततपश्चात प्रार्थना की और अपने घोड़े पर सवार होकर दरिया में कूद गए एवं पार हो गए। पीछे-पीछे फ़ौज़ भी उनका अनुसरण करते हुए दरिया पार कर गयी और उन्होंने क़ाबुल पर विजय प्राप्त कर ली।

हाँ, प्रार्थना से पहले अपने आराध्य या इष्टदेव में अटल विश्वास का होना अनिवार्य है क्योकि ईश्वर में यदि विश्वास न हो तो प्रार्थना कैसी ? भक्त प्रह्लाद का विश्वास देखिये। केवल एक बार थोड़ा सा घबराये हैं पर जब उन्हें अग्नि-स्तम्भ का आलिंगन करने के लिए कहा गया है तो उस समय भी जब उन्होंने प्रार्थना की तो प्रभु चींटी के रूप में प्रकट हुए। उससे उन्हें प्रेरणा मिली। दौड़े-दौड़े गए हैं और अग्नि-स्तम्भ का आलिंगन कर लिया ।

प्रार्थना की सफलता के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :

१। ईश्वर में पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वो हमारे दुखों की निवृति कर देंगे।

२। ऐसा अनुभव करना चाहिए कि जिससे आप प्रार्थना कर रहे हैं आप उसके चरणों में बैठे हैं और वह आपकी प्रार्थना सुन रहे हैं ।

३। प्रार्थना ह्रदय की गहराई से निकलना चाहिए।

४। प्रार्थना उचित होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि सारा संसार मुझे मिल जाये, या जैसा मैं चाहता हूँ परमात्मा सारे काम वैसे ही करवा दे। इसका मतलब तो यह होगा कि परमात्मा हमारा नौकर है।

५। प्रार्थना करते हुए यह देखें कि हमर आकांक्षा पूर्ती से कहीं दूसरे को दुःख तो नहीं पहुंचेगा। तत्प्श्चात ऐसी इच्छा जिसकी प्राप्ति से आपके साथ-साथ औरों को भी सुख मिलेगा, उसके लिए ही प्रार्थना करें ।

६। सर्वोत्तम प्रार्थना यह है- **" हे प्रभु ! संसार में सबका भला हो।"**

संत कभी भी अपने लिए कुछ नहीं माँगता। सच्चा जिज्ञासु भी कुछ नहीं माँगता है - **" मोको कछु न चाहिए राम "** - उसकी यही भावना रहती है। गुरु अर्जुनदेव जी के शब्दों में उसके उदगार यही होते हैं कि-

" राज न चाहूँ, मुक्ति न चाहूँ, मन प्रीत चरन कमला रे।" अर्थात सच्चे भक्त को राज पाठ नहीं चाहिए, यहां तक कि उसे मुक्ति भी नहीं चाहिए। वो मुक्ति को भी तुच्छ समझता है। वो कहता है कि**, " मुझे केवल आपके चरणकमल की प्रीति प्रदान करें।"** ऐसे भाव सिर्फ प्रार्थना के समय ही नहीं बल्कि सारा दिन ही बने रहने चाहिए और हमारे सारे कर्म भी इसी प्रार्थना के अनुरूप होने चाहिए ।

ऐसी प्रार्थना से मन निर्मल हो जाता है, और जब हम सबके भले के लिए प्रार्थना करते हैं तो हमारे भीतर में जो स्वार्थ का संस्कार है वह समाप्त हो जाता है। लोभ, मोह, अहंकार, आदि के संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं एवं सच्ची दीनता व सच्ची सरलता आती जाती है।

दीनता एवं सरलता ऐसे गुण हैं जो परमात्मा के चरणों की ओर ले जाते हैं। शिशु की तरह सरलता होनी चाहिए जिसमें किसी के प्रति राग न हो, किसी के प्रति द्वेष न हो। इससे निवृति तभी संभव है जब प्रार्थना द्वारा सच्चे प्रेम की प्राप्ती हो जाये।

सच्चा प्रेम क्या है ? प्रेम में पवित्रता है, उदारता है, प्रेम में एकता है, प्रेम में विभाजन नहीं होता। परमात्मा का दूसरा नाम ही प्रेम है। हम परमात्मा से प्रेम करते हैं और भाइयों या संसार के अन्य लोगों से द्वेष करते हैं, यह तो कोई प्रेम साधना नहीं है। प्रेम में तो सब समाप्त होकर केवल एकमात्र परमात्मा ही रह जाता है। वहां न मन रहता है और न मन की चतुइराई रहती है। ' फ़क़त तू ही तू है ' आगे चलकर यह भी ख़त्म हो जाता है। प्रेमी कभी-कभी दूसरों को समझाने के लिए कुछ शब्द बोल देता है, अन्यथा इस अवस्था में उसका मन, इन्द्रियां, वृत्तियाँ - सब शांत हो जाते हैं, केवल आत्मा ही प्रकाशमान रह जाती है ।

इस शांत भाव की सुन्दर कल्पना को साकार रूप में दिखाने के लिए कवियों, चित्रकारों व मूर्तिकारों ने भगवान् शंकर अथवा गौतम बुद्ध के भव्य रूप को कैसी शांत, गंभीर एवं प्रसन्न मुद्रा में बैठी मूर्तियों या चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया है। जब प्रेम में डूबे साधक में किसी प्रकार की वेदना-संवेदना या अन्य कोई भी भाव तरंगें नहीं रहतीं हैं तो शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, आत्मा की पृथकता, सब ही समाप्त हो जाते हैं।

ऐसी अवस्था में कोई अवरोध अथवा कोई प्रयास नहीं होता और तब सच्चा योग होता है। सच्ची मौन साधना यहीं से प्रारम्भ होती है। इस प्रेमाग्नि में सारे संस्कार स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। इस स्थति को लाने के हेतु सिद्ध एवं सफल सहायक होते हैं -- प्रायश्चित और प्रार्थना । राम सन्देश : अगस्त, १९९१।